सार्वदेशिकतावाद और हिंदी सिनेमा

स्मृति सुमन

इस शोधपत्र में मैंने सिनेमा-माध्यम के प्रभाव को सार्वदेशिकतावाद (कॉस्मोपोलिटनिज़म) के संदर्भ में समझने की कोशिश की है। एक कला-माध्यम के रूप में सिनेमा हमेशा से अंतर्राष्ट्रीय रहा है, लेकिन क्या सार्वदेशिकतावाद को बढ़ाने में भी इसका सौंदर्यशास्त्र सहायक हो सकता है? इस प्रश्न को समझने के लिए मैंने राष्ट्रवाद के उदय में प्रिंट की भूमिका की बेनेडिक्ट ऐंडरसन द्वारा की गयी व्याख्या को ध्यान में रखते हुए इस माध्यम की अद्वितीयता और अंतर को सार्वदेशिकता के संदर्भ में समझने की कोशिश की है। भारत में सिनेमा का आगमन एक वैश्विक परिघटना का हिस्सा था। शुरुआती दिनों से ही यह सिनेमा स्वदेशी आंदोलन से जुड़ गया, जिसके कारण उसकी भूमिका राष्ट्रवादी हो गयी। अकादमिक जगत में इससे जुड़े कई अध्ययन हुए। मेरा यह लेख निर्माण, कथ्य और ग्रहण के स्तर पर शुरुआती दौर के भारतीय सिनेमा में मौजूद राष्ट्रवाद से इतर सार्वदेशिकतावाद के स्वरूप को केंद्र में रखता है। मैं जानना चाहती हूँ कि हिंदी सिनेमा अपनी सार्वदेशिकता के ज़रिये स्थानीयता में रहते हुए भी सार्वभौमिक होने की कोशिश कैसे करता है और इसके आयाम क्या हैं।

सिनेमा का सार्वदेशिकतावाद

पाठ्यपुस्तकीय अर्थ में सियासत (पॉलिटिकल) पद का आशय उस साझी शक्ति से है जिससे किसी समाज के साझे जीवन के बारे में निर्णय लिया जाता है। फिर सवाल आता है कि निर्णय किसके लिए लिया जाता है? शुरुआती समझ के अनुसार सियासत (मूल शब्द पॉलिटिक्स है जिसका पोलिस शब्द का मतलब है शहर) पद का आशय था एक समुदाय के बारे में या इसके भीतर निर्णय लेना। लेकिन

निर्णय लेने के लिए किसी के पास शक्ति का होना ज़रूरी है और यदि निर्णय लेने की प्रक्रिया में पूरा समुदाय शामिल है तो सियासत शब्द का मतलब पूरे समुदाय के बारे में निर्णय लेने की सामूहिक शक्ति है। यह समझ सियासत के अध्ययन को इस सामूहिक शक्ति के अध्ययन तक सीमित करती है। सियासत के उभार के शुरुआती दिनों में विशेषकर यूनानी समाज में स्त्रियाँ और दास जैसे 'अन्य' निर्णय लेने की प्रक्रिया से बाहर थे। सियासत केवल राज्य की संस्था और निर्णयकारी शक्ति के व्यवहार तक सीमित थी।

नारीवादी राजनीति ने इस स्थिति को बदला। नारीवाद का तर्क है कि शक्ति-संबंध परिवार की निजता के दायरे में भी काम करता है और परिवार ग़ैर-बराबरी और शोषण पर आधारित है। नारीवादी दर्शन ने सियासत के अर्थ को विस्तार दिया। इसने निजता को राजनीति के परिदृश्य के भीतर स्थापित कर दिया। अब निजी और सार्वजनिक दोनों ही सियासत के भीतर आ गये। सियासत के इस नये विस्तारित अर्थ से यह भी सामने आया कि निर्णय लेने की प्रक्रिया सामुदायिक तो है ही, साथ ही वह निजी दायरे में भी है। तात्पर्य यह कि सियासत के इस विस्तारित अर्थ ने इसकी बुनियादी इकाई को प्रश्नांकित किया और इस तरह राजनीति की विभिन्न इकाइयों को नाना प्रकार का प्रतिनिधित्व मिलने की नौबत आयी।

बेनेडिक्ट ऐंडरसन[1] ने प्रिंट को अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में व्याख्यायित करते हुए कहा है कि प्रिंट ने कल्पना के दो रूपों, उपन्यास और अख़बार, को सम्भव किया जो अठारहवीं सदी में पहली बार युरोप में पल्लवित हुए। इन रूपों ने अभिव्यक्ति के लिए तकनीकी माध्यम प्रदान किये जिसका एक रूप था कल्पित समुदाय यानी राष्ट्र। एंडरसन का तर्क है कि उपन्यास और अख़बार इस कल्पित चेतना की सांस्कृतिक बुनियाद थे। उपन्यास और अख़बार एक ऐसी युक्ति के रूप में उभरे जिनके ज़रिये समरूपी समय (होमोजीनियस टाइम) में समुदाय की एक साथ उपस्थिति व्यक्त हो सकी। ऐंडरसन का तर्क है कि प्रिंट और पूँजी के उभार ने नये तरह के कल्पित समुदाय को सम्भव बनाया जिसने अपने बुनियादी आकार-प्रकार में आधुनिक एकीकृत और समरूप राष्ट्रीय परिक्षेत्र के लिए मंच तैयार किया। ऐंडरसन ने दावा किया कि हमारे समय के राजनीतिक जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण सार्वभौम मूल्य राष्ट्र होना हो गया और राष्ट्रवाद इस विशेषता का सांस्कृतिक प्रतिरूप बन गया। इस तरह उन्होंने 'राष्ट्र-समुदाय' को सियासत की सबसे बुनियादी इकाई के तौर पर स्थापित किया। इस जगह मैं ऐंडरसन के दो ज़रूरी प्रस्तावों को रेखांकित करना चाहूँगी। पहला, समुदाय का कोई भी रूप, चाहे वह पवित्र, राजसी या राजनीतिक हो, हमेशा हमारी साझा कल्पना के ज़रिये ही साकार होता है। यह समुदाय हमेशा पहले हमारी कल्पना में आता है। दूसरा, अभिव्यक्ति के माध्यम और इसके विभिन्न रूप दुनिया को अनुभव करने के हमारे तरीक़े को हमेशा बदलते रहते हैं। बीसवीं सदी में अभिव्यक्ति के एक बड़े माध्यम के तौर पर उभर कर आये सिनेमा ने भी दुनिया को अनुभव करने के मानवीय व्यवहार को विस्तृत और परिवर्तित किया।

ऐसा तर्क दिया जा सकता है कि ऐंडरसन ने सियासत की बुनियादी इकाई को राष्ट्र और राष्ट्रीय पहचान तक सीमित कर दिया। ये दोनों सियासत तक पहुँचने के साधन बन गए। इस लेख का उद्देश्य सिनेमा को अभिव्यक्ति के ऐसे माध्यम के रूप में विश्लेषित करना है जो निर्णय लेने की बुनियादी इकाई को राष्ट्र की सीमाओं से निकाल कर बृहत्तर मानवता की तरफ़ ले जाने में मदद करता हो। सियासत की बुनियादी इकाई के रूप में इस बृहत्तर मानवता के व्यापक विश्लेषण और व्याख्या की ज़रूरत है। इस निबंध में मैं दो मुक़ामों का इस्तेमाल करूँगी। एक है सिनेमा-माध्यम का अध्ययन और दूसरा है राजनीतिक सिद्धांत। सिनेमा-माध्यम को विश्लेषित करते समय मैं दिखाऊँगी कि यह माध्यम विश्व को राष्ट्रों के समुदाय के रूप में कल्पित करने की चेतना को बदलता है, और राष्ट्रीय

[1] बेनेडिक्ट ऐंडरसन (1983) : 22-26.

चेतना से परे ले जाता है। इससे सवाल पैदा होता है कि क्या निर्णय लेने की बुनियादी इकाई के रूप में राष्ट्र से इतर कुछ सोचा जा सकता है? राजनीतिक सिद्धांत के दायरे में मैं एक अवधारणा के तौर पर सार्वदेशिकता की परिघटना को एक ऐसे वैचारिक उपकरण के तौर पर देखती हूँ जो हमें राष्ट्र की सीमित कल्पना से परे ले जा सकता है।

सार्वदेशिकतावाद पहचानों को लाँघ कर साहचर्य की वैकल्पिक कल्पना को आकार देता है। राष्ट्रवाद की तरह यह एक समूह के ख़िलाफ़ दूसरे समूह को खड़ा नहीं करता। इसलिए सार्वदेशिकतावाद में साहचर्य का विचार अपने आप को साहचर्य की दूसरी संरचनाओं के विरोध में खड़ा नहीं करता है। उदाहरण के लिए सार्वदेशिक व्यवहार स्त्रीत्व को पुरुषत्व के ख़िलाफ़ प्रोत्साहित नहीं करता। बल्कि हमारी कल्पनाशीलता का इस तरह विन्यास करता है कि स्त्रीत्व के गुण पुरुषत्व के पनपने में सकारात्मक भूमिका का निर्वाह कर सकें। अत: नारीवादी सार्वदेशिक परिकल्पना केवल समानता के लिए ही संघर्ष नहीं करती, परंतु यह हमें मनुष्य होने की उस सम्भावना से परिचित कराती है जिसमें मनुष्य का शक्ति से कुछ लेना-देना न रह जाए। अर्थात् मानवीय संबंध शक्ति-आधारित ढाँचे से बाहर निकल कर श्रेणीबद्ध न रह जाएँ। सार्वदेशिकता दूसरी संस्कृति के प्रति हमारे भीतर सकारात्मक भाव भरती है। अर्थात् दूसरी संस्कृति को 'समझना' सार्वदेशिकता का मूल आचरण है। क्वामे एंथनी अप्पैया[2] के अनुसार एक सार्वदेशिक व्यक्ति दूसरे देश के मूल्यों को भी उतनी ही सहजता से समझता है जितना अपने देश के सांस्कृतिक, सामाजिक और अन्य मूल्यों को सम्मान देता है। सार्वदेशिकतावाद का मतलब अपनी संस्कृति को छोड़ना भी नहीं है। क्रेग कल्हून[3] कहते हैं कि हम अपनी संस्कृति से जितना जुड़े रहते हैं उतना ही हम दुनिया के सांस्कृतिक पटल पर विविधता की सम्भावना मज़बूत करते हैं। इस तरह ये लेखक विमर्श के तौर पर सार्वदेशिकतावाद और राष्ट्रवाद के अंतर्विरोध को ख़त्म करने की बात करते हैं। हर समाज की अपनी कहानी है और उन कहानियों से जुड़ कर हम एक सर्वथा दूसरी विश्व-दृष्टि के सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों से परिचित होते हुए उसके प्रति अपने रवैये का निर्माण कर सकते हैं, और इस प्रकार अपने से भिन्न के प्रति अपरिचय से पैदा होने वाली समस्याओं का शमन हो सकता है। यहाँ तक कि अपने से भिन्न के प्रति अ-मैत्री को धीरे-धीरे मैत्री में बदला जा सकता है। इस संदर्भ में सौंदर्यशास्त्र एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। राष्ट्रवाद अपने को अस्मितापरक राजनीति की ज़मीन पर विकसित करता है, जबकि सार्वदेशिकतावाद हमारी कल्पनाशीलता को वैश्विक पर्यावास के साथ-साथ बृहत्तर मानवता की पहचान को समृद्ध करता है। यहाँ मेरा प्रस्ताव यह है कि सिनेमा को सार्वदेशिकता की साझी कल्पना विकसित करने के रूप में समझा जा सकता है। प्रश्न यह है क्या सिनेमा का सौंदर्यशास्त्र सार्वदेशिकता की साझी कल्पना विकसित करने लायक़ स्पेस मुहैया करा सकता है, एक ऐसी साझी कल्पना जहाँ राष्ट्र की सीमाई चेतना धुँधली पड़ जाती हो?

मार्था नुसबॉम, जिन्होंने सार्वदेशिकता पर विपुल चिंतन किया है, सार्वदेशिकता को व्यवहार-शृंखला के तौर पर समझाने का प्रयास करती हैं।[4] उनका तर्क है कि यह युरोकेंद्रीय अर्थों में वैश्विक पहचान प्राप्त कर लेना भर नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी साझी कल्पना से जुड़ना है जो मनुष्य को पहचानने और उससे बातचीत के लिए राष्ट्र, धर्म और यहाँ तक कि परिवार के दावों से ऊपर सक्रिय रहती है। नुसबॉम का तर्क है कि पहचानने का यह कार्य वैश्विक नागरिकता का बुनियादी कार्य है और इसे प्रत्येक व्यक्ति के नैतिक मूल्य के धरातल पर जारी रखना चाहिए। उनका तर्क है कि प्रत्येक

---

[2] क्वामे एन्थॅनी अप्पैया (2006) : 69-115.

[3] क्रेग कल्हून (2002) : 869-897.

[4] मार्था सी. नुसबॉम (2002) : 3-21. और 'रिप्लाई' : 133.
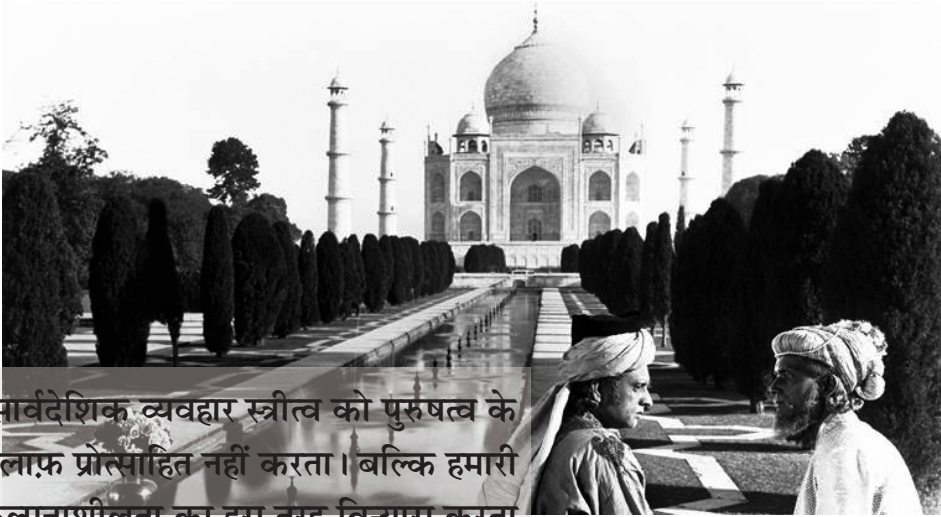
सार्वदेशिक व्यवहार स्त्रीत्व को पुरुषत्व के ख़िलाफ़ प्रोत्साहित नहीं करता। बल्कि हमारी कल्पनाशीलता का इस तरह विन्यास करता है कि स्त्रीत्व के गुण पुरुषत्व के पनपने में सकारात्मक भूमिका का निर्वाह कर सकें। अतः नारीवादी सार्वदेशिक परिकल्पना केवल समानता के लिए ही संघर्ष नहीं करती, यह हमें मनुष्य होने की उस सम्भावना से परिचित कराती है जिसमें मनुष्य का शक्ति से कुछ लेना-देना न रह जाए।

व्यक्ति को नैतिक रूप से समान मानते हुए राष्ट्रीयता, जातीयता, धार्मिकता, वर्गीयता और लैंगिकता को 'अप्रासंगिक' श्रेणी क़रार दे दिया जाए। वे इन श्रेणियों को ख़ारिज नहीं करतीं, बल्कि वैश्विक सह-पर्यावासीयता[5] के लिए साझी कल्पना विकसित करती हैं। वे हमारी कल्पना को किसी एकल पहचान की गिरफ़्त से आज़ाद करने का आग्रह करती हैं। इस तरह से वे समानता को साझी मानवता की बुनियाद के रूप में स्थापित करना चाहती हैं। इसी जगह नुसबॉम ने शिक्षा का महत्त्व रेखांकित किया है। उनका कहना है कि शिक्षा के माध्यम से परस्पर अपरिचितों के बीच पूर्व-स्थापित कल्पनाशीलता के दायरे में मानवीयता की चेतना स्थापित की जा सकती है। यह चेतना हमें हमारे आस-पास फैली विविधता और प्रकृति को समझने और स्वीकारने में मदद करेगी। उन्होंने कहा कि सार्वदेशिक आदर्श मानव-संस्कृतियों, भाषाओं और विभिन्न जीवन-शैलियों की विविधता में सकारात्मक आनंद की अनुभूति करता है। यद्यपि वे कहती हैं कि सबसे अधिक प्रभावी सार्वदेशिक आदर्श मानव-भिन्नताओं को सम्मान देना है, लेकिन तब इन भिन्नताओं को बिना किसी पदानुक्रम के समझना होगा और किसी भी चीज़ के ऊपर विविधता को सम्मान देना होगा। इस बिंदु पर नुसबॉम

[5] मार्था नुसबॉम अपने इस आलेख में रिचर्ड रोर्टी द्वारा राष्ट्रवाद के पक्ष में दिये गये तर्कों का खण्डन करती हैं. रोर्टी, जाति, धर्म और लिंग की विषमताओं को ख़त्म करने का माध्यम राष्ट्रवाद को मानते हैं. मार्था पूछती हैं कि क्या वास्तव में 'राष्ट्रवाद' न्याय और समानता स्थापित कर पाया है? क्या राष्ट्रवाद भी एक तरह की भिन्नता की राजनीति को बढ़ावा नहीं देता? वे दावा करती हैं कि राष्ट्रवाद भिन्नताओं का विकल्प नहीं हो सकता. इन सबका विकल्प सार्वदेशिकता है जिसमें पूरी मानव-जाति को एक समुदाय की तरह देखा जाता है, और सियासत की मूल इकाई 'राष्ट्र-राज्य' न हो कर सम्पूर्ण विश्व हो जाती है. जहाँ राष्ट्रीय संस्कृति की जगह मानव-संस्कृति को बढ़ावा मिले, वहाँ वैश्विक स्तर पर साझे आवास की परिकल्पना की जा सकती है. यह साझा आवास सहपर्यावासिता को बढ़ावा देगा.

प्रस्तावित करती हैं कि बिना पदानुक्रम के भिन्नताओं को समझने के लिए हमें वैश्विक सह-पर्यावासीयता की साझी कल्पना को सींचना पड़ेगा। उनका तर्क है एक आदर्श के रूप में सार्वदेशिकता इस साझी कल्पना को सियासत की बुनियादी इकाई के रूप में पहचानने के ज़रिये ही विकसित करती है। और इसी जगह पर वे प्रस्तावित करती हैं कि कला और साहित्य इस साझी कल्पना को सींचने में रचनात्मक भूमिका अदा कर सकते हैं। चूँकि सिनेमा कला और साहित्य का विस्तार है, इसलिए नुसबॉम के इस प्रस्ताव के संदर्भ में इस माध्यम की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

जिस तरह प्रिंट के आने के बाद इसने पाठक समुदाय का निर्माण किया, उसी तरह सिनेमा ने देखने-सुनने वाले समुदाय (ऑडिएंस) का निर्माण किया। वास्तविक समय और वास्तविक स्थान का सिनेमाई चित्रण, प्रिंट के काल्पनिक समय और स्पेस के विवरण से अधिक प्रभाव उत्पन्न करता है। अत: सिनेमा की दृश्यमानता हमें एक अलग समय के साथ एक अलग लोक या स्थान से भी जोड़ देती है। दूसरे, प्रिंट के मुक़ाबले सिनेमा चेतना को सीधे स्पर्श करता है और भावनाओं को प्रत्यक्षत: प्रभावित करता है। यह न केवल एक, एकसमान, क्रमबद्ध रैखिक स्पेस निर्मित करता है, बल्कि स्थानिकता, दृश्य, ध्वनि, भावनाओं से बनने वाले स्पेस को भी उद्वेलित करता है।[6] आंद्रे बाज़ाँ ने लिखा है कि सिनेमा में सिनेमा और दर्शक के बीच का संबंध तादात्म्य का है। बाज़ाँ तर्क देते हैं कि 'स्क्रीन एक कृत्रिम दुनिया खोलती है जहाँ सिनेमाई दृश्य, और जिस दुनिया में हम रहते हैं, के बीच विभाजक रेखा होती है। स्थान का अनुभव ब्रह्माण्ड की हमारी सोच के लिए संरचनात्मक आधार है। सिनेमैटोग्राफ़ी द्वारा उत्पादित दृश्य सत्य से वंचित हो जाने के बावजूद स्थान के सच को अपने में समाहित करता है।' बाज़ाँ के लिए किसी ख़ास समय में सिनेमा एक ब्रह्माण्ड, एक विश्व या प्रकृति है। सिनेमा के सौंदर्य का सबसे प्रभावी पक्ष है यथार्थवाद। यानी वास्तविकता का हूबहू चित्रण। विषयवस्तु के यथार्थ और अभिव्यक्ति के यथार्थवाद की तुलना में सिनेमा का सबसे सौंदर्यात्मक पक्ष स्पेस का यथार्थवाद है जिसके बिना सिनेमा नहीं बन सकता। बाज़ाँ का यह तर्क है कि दर्शक सिनेमाई स्थान के साथ तादात्म्य क़ायम करना शुरू करते हैं, और इस तादात्म्य से सिनेमा देखने वाली जनता की साझी कल्पना निर्मित होती है। यह तादात्म्य होता है स्थान के साथ, मुद्दों के साथ और सार्वदेशिक संवेदनाओं के साथ। इस तरह यह तादात्म्य पहले हमारी कल्पना को स्थानिकता के तहत निकट समुदाय के रूप में कल्पित करने की ज़मीन मुहैया कराता है, और उसी समय वैश्विक सह-पर्यावासीयता के लिए साझी कल्पना विकसित करने की कोशिश करता है।[7] सिनेमा जुड़ाव के बोध को राष्ट्रीय सीमाओं के परे निर्मित करता है, जिससे समूहों व समुदायों के वैकल्पिक जुड़ाव की सम्भावना बनती है। इस तरह सिनेमा स्थानीयता से हटे बिना वैश्विक सह-पर्यावासीयता के संदर्भ में हमारी कल्पना को निर्मित करने का माध्यम बन जाता है। इसी के साथ सिनेमा एक सामूहिक विमर्श शुरू कर सामूहिक हित की रचना कर डालता है। यानी सिनेमा किसी भी तरह की पहचान की सीमा के परे जा कर बिना कोई अंतिम सहमति आरोपित किये हुए बातचीत की सम्भावना तैयार कर देता है। इस प्रकार सिनेमा सार्वदेशिकतावाद को सम्भव बनाता है।

आरम्भिक भारतीय सिनेमा और सार्वदेशिकतावाद

निर्माण और ग्रहणशीलता के स्तर पर सिनेमा अपने आरम्भ से ही आधुनिक सार्वदेशिक विधा रही है। वास्तविक जगत को पर्दे पर रचने की जादुई क्षमता ने सिनेमा को एक वैश्विक परिघटना बना दिया। भारतीय सिनेमा में शुरुआती दौर से ही सार्वदेशिकतावाद के चिह्नि रहे हैं। इसके अध्येता आशीष राज्याध्यक्ष[8] ने दादा साहेब फालके की फ़िल्मों का भारतीय आधुनिकता के उभार, आधुनिक तकनीक

---

[6] ब्रायन एल. ओट (2010) : 27.
[7] आंद्रे बाज़ाँ (1967).
[8] आशीष राज्याध्यक्ष (1994).

और नवाचार अपनाने, और राष्ट्रवाद के साथ इसके रिश्ते पर ध्यान दिया है। वैसे तो आरम्भिक मूक सिनेमा पर किया गया शोध-अध्ययन सिनेमा को राष्ट्रवादी विचार प्रसारित करने के उपकरण के तौर पर पेश करता है, लेकिन कुछ विद्वानों ने इसका प्रतिवाद भी किया है। भारतीय सिनेमा के शुरुआती दौर पर शोध करने वाले कौशिक भौमिक[9] ने विस्तार से बताया है कि भारतीय सिने निर्माता न केवल तकनीक और उपकरणों का आयात कर रहे थे, बल्कि कथ्य को पर्दे पर पेश करने की विधियों पर भी वैश्विक सिनेमा का प्रभाव था। भौमिक बताते हैं कि राष्ट्रवाद से जोड़ कर देखी जाने वाली मिथकीय फ़िल्मों के अलावा भी ऐसी फ़िल्में बन रही थीं जिनमें कई तरह से सार्वदेशिकता की प्रवृत्ति मौजूद दिखती है। उनके अनुसार मूक सिनेमा के दौर की सार्वदेशिकता का पहला सूत्र प्रौद्योगिकीय प्रभाव है, दूसरा है स्टार-सिस्टम का उदय। उदाहरण के तौर पर वे बताते हैं कि स्टार के तौर पर उभरी सीता देवी (रीनी स्मिथ), सुलोचना (रूबी मेयर्स) और नाडिया (मेरी इवांस) भारतीय नहीं थीं। ये अभिनेत्रियाँ अपने साथ एक स्टार-संस्कृति भी ला रही थीं। यह संस्कृति पश्चिमी सिनेमा की संस्कृति का अहम हिस्सा थी। बम्बई में इस्लामिक परम्परा से प्रभावित फ़िल्में बन रही थीं। जैसे *ख़्वाब ए हस्ती, नूर ए आलम, ख़ुदा की शान, दिवानी दिलबर,* और *बग़दाद-नु-बुलबुल*। इन पर उर्दू की लोकप्रिय मसनवी परम्परा और दास्तानगोई के साथ पारसी रंगमंच का भी प्रभाव था। बम्बई सिनेमा में आकर्षक विदेशजता, ऐंद्रिकता और रोमांच का मिश्रण था जो इसे सार्वदेशिक स्वरूप दे रहा था। साथ ही थियेटर-कम्पनी, सिनेमा-निर्माण, दोनों में ही हिंदू और मुस्लिम धर्म के लोग समन्वित रूप से शामिल थे। ज़्यादातर थियेटर कम्पनियों और फ़िल्म कम्पनियों के मालिक हिंदू होते थे, पर उसमें काम करने वाले मुस्लिम होते थे। उदाहरण के तौर पर 1933 में बनी *नूर-ए-ईमान* नामक उर्दू फ़िल्म मिस्टर शर्मा द्वारा लिखी गयी जो *स्वाधीन भारत* नामक पत्रिका के सम्पादक थे, और पंजाब की एक प्रमुख अभिनेत्री और गायिका मुख़्तार *रामायण* में गायन के लिए जानी जाती थीं। दूसरी तरफ़ पाश्चात्य परम्परा से प्रभावित रोमांस और ऐक्शन वाली फ़िल्में भी बन रही थीं, जैसे *हंटरवाली*। कौशिक भौमिक आरम्भिक भारतीय सिनेमा को निर्माण के स्तर पर सामासिक मानते हैं। यह सामासिकता इसे अपने स्वरूप में सार्वदेशिक बनाती है।

रोज़ी टॉमस[10] भी भारत में सिनेमा की शुरुआत के एक वैकल्पिक इतिहास की चर्चा करती हैं। उनका तर्क है कि शुरुआती हिंदी सिनेमा केवल हिंदू मिथकों और नैतिक शिक्षा का सिनेमा नहीं था, बल्कि फ़ैंटेसी और स्टंट फ़िल्मों का भी था। इन पर डगलस फ़ेयरबैंक, पर्ल वाइट जैसे निर्देशकों की स्टंट फ़िल्मों का प्रभाव था। स्थानीय परम्पराओं और अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव के मिश्रण से भारतीय सिनेमा का संकरीकरण हुआ। रोज़ी उल्लेख करती हैं कि *अरेबियन नाइट्स* पर पूरे विश्व में, जैसे फ्रांस, जर्मनी और अन्य कई युरोपीय देशों, में फ़िल्में बनाई गयी थीं। भारत में सिनेमा के बनने से पहले ही इन कहानियों का प्रचलन क़िस्सों और दास्तानों के माध्यम से हो गया था। वहाँ से इन कहानियों को पारसी रंगमंच ने नाटक का रूप दिया। पारसी थियेटर में खेले गये नाटकों ने भारत में इन कहानियों के फ़िल्मी संस्करण को प्रभावित किया। भारत में पारसी रंगमंच में शेक्सपीयर और विक्टोरियन साहित्य, *शाहनामा,* सूफ़ी मसनवी परम्परा, और दास्तान परम्परा को भी अपनाया गया था। सिनेमा जब पारसी रंगमंच को अपना रहा था तो इन कहानियों को भी अपना लिया। रोज़ी ने *गुल-ए-बकावली*[11] का उदाहरण दिया कि कैसे यह फ़िल्म उस समय बहुत लोकप्रिय हुई। ये फ़िल्में अपनी

---

[9] कौशिक भौमिक (2001).

[10] रोज़ी टॉमस (2014).

[11] यह फ़िल्म पहली फ़िल्म थी जो पूरे भारत में बहुत प्रसिद्ध हुई. इसमें पारसी राजकुमारी बकावली और राजकुमार ताज-ए-मुल्क़ की प्रेम कहानी दर्ज है. जिसमें ये दोनों एक फूल *गुल-ए-बकावली* की तलाश कर रहे हैं जिससे राजकुमारी के पिता की बीमारी ठीक हो जाएगी. इस फ़िल्म में जादू और तिलिस्म की जो दृश्यात्मकता है वो क्षेत्रीय, धार्मिक और भाषाई बंधन को तोड़ कर लोकप्रिय होती है.

लोकप्रियता से धार्मिक, भाषाई और क्षेत्रीय बंधनों को तोड़ रही थीं। इसके बाद मदान फ़िल्म्स द्वारा बनाई गयी फ़िल्में, जैसे *प्रिंसेस बुदुर* (1922), *हूर-ए-अरब* (1928), *अलादीन* (1931), और *अलीबाबा* (1931) जैसी फ़िल्मों पर हम यह प्रभाव देख सकते हैं। इसी तरह से वे 1933 में बनी जेबीएच वाडिया द्वारा निर्मित फ़िल्म *लाल-ए-अमन* की चर्चा करते हुए कहती हैं कि फ़िल्मों में अलादीन और अलीबाबा के प्रसिद्ध चरित्रों में शेक्सपीयर और हॉलीवुड के चरित्रों का मिश्रण मिलता है। ज़ाहिर है कि मूक सिनेमा के प्रारम्भिक दौर में ही वैश्विक प्रभाव ने स्थानीयता से मिल कर संकर रूप ग्रहण कर लिया था। यही संकरता सार्वदेशिकता को सम्भव कर रही थी।

ज़ाहिर है कि प्रौद्योगिकीय अंतर्राष्ट्रीयतावाद, हाइब्रिडिटी एवं साझी संस्कृति के कारण भारतीय सिनेमा शुरुआत से ही सार्वदेशिक रहा है। विशेषकर मूक सिनेमा के दौर में जब सिनेमा किसी ख़ास भाषा से नहीं जुड़ा था। सिनेमा की अपनी एक भाषा होती है जो सिनेमा को स्वभावतः सार्वदेशिक बना देती है। इसे हम चार्ली चैपलिन के सिनेमा के माध्यम से समझ सकते हैं। चैपलिन की फ़िल्मों में एक औद्योगिक समाज की विडम्बना दिखती है। आधुनिकता और प्रगतिशीलता किस प्रकार बेगानगी के एहसास और मशीनीकरण की समस्या पैदा करती है— चैपलिन का सिनेमा इसका रहस्य खोलता है, वह भी लोगों को हँसाते हुए। *सिटी लाइट्स* जैसी फ़िल्में एक बड़ा सवाल यह उठाती हैं कि क्या इस समाज में जो व्यक्ति सीधा-साधा है उसे पागल समझा जाना चाहिए? इस प्रकार सिनेमा सामान्य और असामान्य के आधुनिक अंतर पर प्रश्न-चिह्न लगाता है। फ़िल्म अपनी प्रस्तुति में बिल्कुल युरोपीय और स्थानीय है , जबकि उसमें उठाए गये सवाल और संवेदना किसी भी आधुनिक ओद्यौगिक समाज के लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितना युरोप के लिए।

भारत में मूक सिनेमा की शुरुआत ब्रिटिश औपनिवेशिक फ़िल्मों से हुई जिसमें अंग्रेज़ों को भारत के मसीहा के रूप में दिखाया गया था। फ़िल्में इस प्रकार से बनाई जाती थीं जिनमें ब्रिटिश लोग भारतीय समाज को शिक्षित और सभ्य बनाते नज़र आते हैं। *गंगादीन* (1939) और *द रेन* (1932) ऐसी ही कुछ फ़िल्में थीं। भारत में स्वदेशी फ़िल्मों का निर्माण इनके जवाब में हुआ। इनका आग़ाज़ दादा साहेब फालके की फ़िल्मों से माना जाता था। इन दो तरह की फ़िल्मों के अलावा कुछ ऐसी फ़िल्में भी थीं जिन पर प्राच्यवादी दृष्टि को पोषित करने का आरोप लगा कर उपेक्षित करने की कोशिश हुई, हालाँकि ये फ़िल्में वैश्विक सहयोग से बन रही थीं और वैश्विक मंच पर प्रदर्शित भी हो रही थीं। इन फ़िल्मों के प्रणेता हिमांशु राय थे।

हिमांशु राय ने शांतिनिकेतन से पढ़ाई कर लंदन जाकर क़ानून की शिक्षा ली। वहाँ की कला और संस्कृति से प्रभावित होकर एक भारतीय नाट्य लेखक निरंजन पाल के लिखे नाटक *द गॉडेस* में काम किया। इसी बीच हिमांशु राय फ़िल्म-निर्माण के बारे में सोचने लगे और वहाँ से जर्मनी चले गए। वहाँ जर्मनी की एमेल्का कम्पनी के सहयोग से पहली भारतीय-अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्म *लाइट ऑफ़ एशिया* (1925) के निर्माण का हिस्सा बने। यह फ़िल्म एडिवन ऑर्नल्ड की कविता पर आधारित थी। इसके बाद एमेल्का कम्पनी के निर्देशक, कैमरामैन, सहयोगी निर्देशक भारत आये। हिमांशु राय ने अभिनेताओं की तलाश की और धन का भी इंतज़ाम किया। बुद्ध की भूमिका में रॉय ख़ुद थे। इस फ़िल्म में अभिनेत्री की भूमिका में एक ऐंग्लो-इण्डियन अभिनेत्री रिनी स्मिथ काम कर रही थीं जो भारत में सीता देवी के नाम से प्रचलित हुईं। इस फ़िल्म के निर्देशक थे फ्रैंज़ ऑस्टेन। निर्माण के स्तर पर ही नहीं, प्रदर्शन के स्तर पर भी फ़िल्म वैश्विक थी, जिसका बर्लिन, वियेना, बुडापेस्ट, जिनिवा और ब्रसेल्स में प्रदर्शन हुआ।

लाइट आफ़ एशिया, शिराज़ (1928) और *अ थ्रो ऑफ़ डाइस* (1931)[12]— ये तीनों फ़िल्में वैश्विक सहयोग से बनी थीं। हिमांशु राय के प्रोडक्शन में फ्रैंज़ ऑस्टेन ने इन तीनों फ़िल्मों को

[12] *लाइट ऑफ़ एशिया (1925), शिराज़ (1928)* और *अ थ्रो ऑफ़ डाइस (1931).*

हिमांशु राय की तीसरी फ़िल्म *थ्रो ऑफ़ डाइस* ... प्रेम के मुद्दे पर बनी थी। फ़िल्म पहली बार यौनिकता को प्रेम का अभिन्न अंग मानती है। इसमें स्क्रीन पर एक चुम्बन-दृश्य भी दिखाया गया। ... राष्ट्रीय संस्कृति को बचाने के नामपर चुम्बन और प्रेम के या यौनिक अंतरंगता के सार्वजनिक चित्रण से हिंदी सिनेमा बचता रहा। लेकिन, यह फ़िल्म इस दृश्य द्वारा राष्ट्रवाद की निर्धारित संहिता का उल्लंघन करती है।

निर्देशित किया था। इस संयुक्त प्रोडक्शन की पहली फ़िल्म *लाइट ऑफ़ एशिया* ही थी जिसका निर्माण पहले विश्वयुद्ध के बाद के उस अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में हुआ था जब पूरा विश्व राष्ट्रवादी होड़ में सम्प्रभुता और सीमाओं की लड़ाई का वीभत्स स्वरूप देख चुका था। पूरी दुनिया सांस्कृतिक, बौद्धिक और राजनीतिक रूप से युद्ध के ख़िलाफ़ अपना विरोध दर्ज कर रही थी। साथ ही साथ दुनिया भर में प्रेम और शांति के दूत के रूप में बुद्ध और उनके उपदेशों की चर्चा हो रही थी। जर्मनी में हरमन हेस ने बुद्ध पर अपनी किताब *सिद्धार्थ* लिखी, तो दूसरी तरफ़ बर्टोल्ट ब्रेख़्त ने *बुक ऑफ़ ट्रांसफ़र्मेशन* जैसी रचना तैयार की।

दरअसल, यह फ़िल्म राजनीतिक अशांति और युद्ध के बाद के अवसादपूर्ण माहौल में शांति की अपील करती है। राजकुमार सिद्धार्थ सांसारिक दु:खों से ऊब कर शांति और प्रेम की तलाश में राज-पाट छोड़ कर कैसे ज्ञान प्राप्त करते हैं और भगवान में परिवर्तित हो जाते हैं— फ़िल्म इस यात्रा को दिखाती है। व्यक्ति की आंतरिक यात्रा के साथ ही एक भौगोलिक यात्रा फ़िल्म की भूमिका में भी है। यह भारत के ऐश्वर्यपूर्ण जीवन, यहाँ के राजमहल, राजशाही जीवन-शैली की यात्रा पर ले जाती है। फ़िल्म शाही जीवन-शैली और और सामान्य जीवन जी रहे आम आदमी को एक-दूसरे के समानांतर ला कर खड़ा करती है। फ़िल्म की आलोचना भी यह कह कर हुई कि फ़िल्म अंग्रेज़ों की प्राच्यवादी दृष्टि को पोषित करती है। परंतु जिस प्रकार से फ़िल्म जामा मस्जिद के दृश्य से शुरू कर, बनारस के मंदिर होते हुए, बुद्ध के ज्ञानप्राप्ति स्थल गया के दृश्य दिखाती है— उससे भारत में बहुधार्मिक सहअस्तित्व की बात मज़बूत होती है। फ़िल्म मानव-जीवन में व्याप्त विरोधाभासों को सूचीबद्ध करती है और एक आंतरिक और एक बाह्य यात्रा को रेखांकित करती चलती है। फ़िल्म धार्मिक सार्वदेशिकता के साथ-साथ आंतरिक सार्वदेशिकता के आयाम उभारती है। आंतरिक सार्वदेशिकता कृत्रिम सार्वभौमिकता से अलग है। फ़िल्म में राजकुमार सिद्धार्थ के गौतम बनने की यात्रा अपने 'स्व' को 'पर' के लिए पूरी तरह समर्पित करने की भी यात्रा है। फ़िल्म महात्मा बुद्ध के चरित्र की सार्वभौमिकता और आंतरिक सार्वदेशिकतावाद को केंद्र में रखती है।

शिराज़ मुख्यत: भारत में शाहजहाँ, सलीमा (बाद में मुमताज़ महल) और शिराज़ के त्रिकोणीय प्रेम कहानी है। फ़िल्म दुनिया भर में मशहूर ताजमहल के निर्माण से जुड़े वैकल्पिक इतिहास को

उजागर करती है। स्थापत्य के प्रति मुग़ल बादशाहों के प्रेम का भी एक इतिहास है। यह सिनेमा जहाँ मुग़ल साम्राज्य में अंतर्वर्गीय प्रेम की सम्भावना को नकारता है, वहीं कला के प्रति सम्मान के भाव को भी दिखाता है। फ़िल्म सलीमा, शिराज़ और शाहजहाँ के बीच की प्रेम-कहानी है। शिराज़ और सलीमा बचपन से एक साथ थे। वह सलीमा से प्रेम करता है। मुग़ल द्वारा ग़ुलाम बना लिए जाने के बाद वह शाहजहाँ के सामने पेश की जाती है और साहस के साथ बादशाह के हर सवाल का जवाब देती है। शाहजहाँ उसके इस साहस के कारण उससे प्रेम करने लगते हैं और अंततः अपनी बेगम बना लेते हैं। सलीमा की तलाश में शिराज़ कुछ सालों बाद महल में आता है। सलीमा से बातचीत करते हुए उसे शाहजहाँ देख लेते हैं। सलीमा शाहजहाँ को शिराज़ के बारे में बताती है और तब शिराज़ को पता चलता है कि सलीमा से उसका प्रेम एकतरफ़ा है। जाते हुए शिराज़ एक स्थापत्य का नमूना भेंट करता है जो दरअसल ताजमहल का नमूना है। सलीमा उर्फ़ मुमताज़ की मौत के बाद शाहजहाँ इसी नमूने की तर्ज़ पर शिराज़ से ही ताज़महल की तामीर करवाते हैं। फ़िल्म के एक दृश्य में शिराज़ और शाहजहाँ एक साथ ताज को निहारते हुए दिखाई पड़ते हैं। प्रेम के प्रतीक के तौर पर बादशाह की उपलब्धि के इतिहास को मौखिक इतिहास के इस आख्यान से एक अलग आयाम मिलता है जिसमें एक साधारण कारीगर को भी ताजमहल बनाने का श्रेय है। यानी इतिहास केवल बादशाहों का नहीं, जनता का भी होता है।

भारतीय मूक सिनेमा से संबंधित समझ जहाँ उस समय तक केवल दादा साहेब फालके की मिथकीय फ़िल्में भारत के इतिहास को हिंदू धर्म के साँचे में रखकर देख रही थीं, वहीं हिमांशु राय की इस फ़िल्म ने भारत के विविधवर्णी इतिहास को उजागर किया और मुग़लों को भारतीय इतिहास के अभिन्न अंग के रूप में दिखाया। मिथक आधारित सिनेमा के उस दौर में त्रिकोणीय प्रेम कहानी पर फ़िल्म बना कर भारतीय सिनेमा में एक नयी संकर शैली— रोमांटिक-ऐतिहासिक— की भी रचना की। प्राच्यवादी दृष्टि वाली औपनिवेशिक फ़िल्मों में भारतीय स्त्री की छवि हमेशा एक मूक महिला की होती थी, मगर इस फ़िल्म ने सलीमा को एक साहसी स्त्री के रूप में स्थापित किया। इस फ़िल्म में शाहजहाँ के प्रेम में एक और राजकुमारी पड़ती है। वह शाहजहाँ को प्राप्त करने के लिए साज़िश भी रचती है। यानी इस फ़िल्म में स्त्रियाँ केवल त्याग और बलिदान की प्रतिमूर्ति ही नहीं हैं, बल्कि दूसरे मानवीय गुणों और कमज़ोरियों से भी लैस हैं।

हिमांशु राय की तीसरी फ़िल्म *थ्रो ऑफ़ डाइस* थी। यह भी इसी शृंखला की एक फ़िल्म थी जो प्रेम के मुद्दे पर बनी थी। फ़िल्म पहली बार यौनिकता को प्रेम का अभिन्न अंग मानती है। इसमें स्क्रीन पर एक चुम्बन-दृश्य भी दिखाया गया। माधव प्रसाद[13] के अनुसार राष्ट्रीय संस्कृति को बचाने के नाम पर चुम्बन और प्रेम के या यौनिक अंतरंगता के सार्वजनिक चित्रण से हिंदी सिनेमा बचता रहा। लेकिन, यह फ़िल्म इस दृश्य द्वारा राष्ट्रवाद की निर्धारित संहिता का उल्लंघन करती है।

ये तीनों फ़िल्में मूक सिनेमा के इतिहास को एक सेकुलर स्वरूप भी देती हैं। एक तरफ़ ये फ़िल्में भारत को एक अनोखी, असाधारण, अजीब, अंधविश्वासी ज़मीन के रूप में दिखा रही थीं, वहीं दूसरी तरफ़ ये फ़िल्में भारत की एक ऐसी छवि का वैश्विक संचार कर रही थीं जहाँ धार्मिक समन्वय भी होता हुआ दिखता है। प्रेम की विषयवस्तु पर बनी ये कहानियाँ कहीं न कहीं परिवार, जो सिनेमा द्वारा बाद में राष्ट्र का प्रतीक बना दिया गया, की परम्परागत अवधारणा में सेंध भी लगा रही थीं। इन फ़िल्मों ने भारतीय फ़िल्मों और भारत को एक अलग पहचान दी और भारतीय समाज की धार्मिक सार्वदेशिकता को स्थापित किया। सिर्फ़ कथ्य के स्तर पर ही नहीं, निर्माण के स्तर पर भी इन फ़िल्मों में सार्वदेशिकता थी। विभिन्न राष्ट्रीयता के लोग मिल कर एक खाँटी क़िस्म का भारतीय कथ्य बना रहे थे जिसका लक्षित दर्शक समुदाय वैश्विक था।

---

[13] माधव प्रसाद (1998).

1940-60 के हिंदी सिनेमा में सार्वदेशिकता

अब मैं 1940 से 1950 की फ़िल्मों की चर्चा करना चाहूँगी। ये फ़िल्में इसलिए भी अहम हैं क्योंकि इन फ़िल्मों में जहाँ सिनेमा राष्ट्र-निर्माण का वाहक बन गया, वहीं इन्होंने राष्ट्रवाद के हिंदूवादी, सजातीय और कुलीन आग्रहों पर एक प्रश्न-चिह्न भी लगाया। इन फ़िल्मों ने सिनेमा की कट्टर राष्ट्रवादी छवि को केवल चुनौती ही नहीं दी, बल्कि सिनेमा की एक सार्वदेशिक छवि का भी निर्माण किया। व्ही शांताराम, विमल राय, गुरुदत्त, राजकपूर और देव आनंद की फ़िल्मों के माध्यम से हम इस पक्ष पर नज़र डालते हुए देखेंगे कि कैसे इनका सिनेमा एक सार्वदेशिक दृष्टिकोण को केंद्र में रख कर वैश्विक सह-अस्तित्व की बात करता है। साथ ही हम यह भी देखेंगे कि सार्वदेशिकता का अनुभव कराने में भी इनकी अहम भूमिका है। इन फ़िल्मों ने प्रौद्योगिकीय अंतर्राष्ट्रीयतावाद के साथ-साथ अपनी भाषा के माध्यम से, संगीत के माध्यम से, शहर की एक स्वतंत्र परिकल्पना और संकरता के ज़रिये हिंदी सिनेमा के सार्वदेशिक स्वप्न को एक नया आयाम दिया। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद की इन फ़िल्मों की एक मुश्तरका विषयवस्तु थी प्रेम और यात्रा।

शांताराम की फ़िल्म *डॉक्टर कोटनीस की अमर कहानी* (1946)[14] ख़्वाजा अहमद अब्बास की कहानी 'ऐंड द वन हु डिड नॉट कम बैक' पर आधारित एक ऐसे डॉक्टर की कहानी है जो चीन जाता है ताकि द्वितीय विश्व-युद्ध में घायल हुए चीनी सैनिकों की मदद की जा सके। द्वारिका नाथ कोटनीस (व्ही शांताराम) लंदन से औषधि विज्ञान पढ़ कर भारत आते हैं। यहाँ उनके पिता उनके लिए सभी आधुनिक संसाधनों से लैस एक अस्पताल खुलवाते हैं। कोटनीस उस अस्पताल में काम शुरू ही करने वाले होते हैं कि जापानी सैनिकों से चीनियों को बचाने के लिए भारतीय नेता हिंदुस्तानी डॉक्टरों से अपील करते हैं। उसी अपील से प्रभावित हो कर डॉक्टर कोटनीस चीन जाने की पेशकश करते हैं। कोटनीस के पिता सहर्ष इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हैं। वे इस कार्य को देश-सेवा के तौर पर देखते हैं। पाँच सदस्यों की टीम के साथ चीन गये डॉ. कोटनीस के सभी साथी एक निश्चित समय के बाद भारत लौट आते हैं पर कोटनीस वापस नहीं आते। वे घायल सैनिकों की सेवा व्यक्तिगत तौर पर करने लग जाते हैं।

फ़िल्म की शुरुआत देशभक्ति के गाने से होती है जिसमें अपना काम सच्चाई से करने को ही देशभक्ति के तौर पर दिखाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि डॉक्टर कोटनीस भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। चीन जाते हुए उनके पिता उन्हें एक अँगूठी देते हुए याद दिलाते हैं कि चाहे जो हो, अपना काम छोड़ कर न आना ही देश की असली सेवा है। अत: देश की सेवा को झण्डा फहराने और नारा लगाने की बजाय काम करने के तौर पर स्थापित किया गया है। इस प्रकार फ़िल्म देशभक्ति और मानवता की सेवा को एक दूसरे के सामने रखती है और इन दोनों के बीच किसी अंतर को नकारती है। कोटनीस पिता की मौत पर भी अपना काम छोड़ कर नहीं जाते।

डॉ. कोटनीस को चीन में रहते-रहते एक चीनी लड़की गुओ क्विन्लन (बी. जयश्री) से प्रेम भी हो जाता है। गुओ ने युद्ध में अपना सब कुछ खो दिया है और युद्ध की विभीषिका का अनुभव कर चुकी है। गुओ डॉ. कोटनीस के साथ नर्स के रूप में काम करने लगती है। फ़िल्म में स्थानीय चीनी संस्कृति और परम्पराओं को भी फ़िल्माया गया है। 'नयी दुल्हन' गीत को चीनी संगीत और नृत्य के अनुसार ही पेश किया गया है। वसंत देसाई ने संगीत इस तरह तैयार किया है कि यह संकर संगीत तो है ही, संकर प्रकृति के सांस्कृतिक और सामाजिक आचरण को भी व्यक्त करने में सक्षम है। इसके साथ ही फ़िल्म राष्ट्रीयता के परे भी व्यक्तियों में प्रेम की सम्भावना को दिखाती है। भारतीय डॉक्टर और चीनी नर्स के बीच प्रेम हास्य की छौंक के साथ संजीदगी से पेश किया गया है। उन दोनों के बीच

---

[14] *डॉक्टर कोटनीस की अमर कहानी* (1946).

पहले अंतरंग दृश्य में दोनों युद्ध से उपजी पीड़ा को एक-दूसरे से साझा करते हैं। ऐसा लगता है कि वे भारतीय और चीनी त्रासदी का प्रतिनिधित्व तो करते ही हैं, दूसरे विश्वयुद्ध पर भारतीय और चीनी दृष्टिकोण को भी प्रस्तुत करते हैं। यह प्रतीकात्मक चित्रण उस समय और शिद्दत से महसूस किया जाता है, जब उनकी शादी की पहली रात की अंतरंगता विस्फोटों और बम गिरने की आवाज़ों के बीच बीतती है।

डॉ. कोटनीस फ़िल्म में एक टीके के आविष्कार में लगे हैं जो ऐसी महामारी का इलाज कर सकता है जिससे चीनी सैनिक सबसे अधिक प्रभावित थे। इस टीके के असर को परखने के लिए वे इसका प्रयोग अपने ऊपर ही करते रहते हैं। जल्दी ही वे टीका बना लेते हैं, लेकिन यह प्रयोग उनकी सेहत को बुरी तरह प्रभावित कर देता है और वे मिरगी के मरीज़ बन जाते हैं। नाटकीय प्रभाव पैदा करने के लिए शांताराम ने इस घटना को एक गहन-दृश्य के माध्यम से दिखाया है। इस दृश्य में डॉ. कोटनीस एक घायल चीनी सैनिक के शरीर से गोली निकालते हुए दिखते हैं। वे यह ऑपरेशन एक गुफा में करते हैं जहाँ प्रकाश नहीं है। प्रकाश का एकमात्र स्रोत वह लालटेन है जो सभी सैनिकों ने अपने हाथ में ली हुई है। वे चार बुलेट निकाल तो लेते हैं, लेकिन अंतिम बुलेट निकालते हुए उन पर बेहोशी छा जाती है। डॉ. कोटनीस इस स्थिति में सैनिकों की आशा की अंतिम किरण हैं, क्योंकि उनका और दूसरे सैनिकों का स्वास्थ्य उन पर ही निर्भर है। इस प्रकरण की दृश्य-भाषा बहुत प्रभावी है। इसे गहन अँधेरे में फ़िल्माया गया है। ऑपरेशन में सफल होते ही उनके चेहरे से प्रकाश निकलता हुआ दिखाया जाता है। ऐसा लगता है कि वे इस घोर अँधेरे में एक प्रकाश की लौ हों। रूपकीय ढंग से यह मानवता के विचार को प्रदर्शित करता है। डॉ. कोटनीस सैनिक के लिए अपनी जान दाँव पर लगा देते हैं। उनकी परोपकारी प्रवृत्ति राष्ट्र की सीमा को नहीं मानती।

मरने से पहले डॉ. कोटनीस गुओ को शोलापुर के अपने गाँव के बारे में बता देते हैं। गुओ डॉक्टर की माँ से मिलने भारत आती है। कोटनीस की माँ अपने पोते से मिलती है। 'ज़िंदगी-ज़िंदगी काम करते रहने का नाम ही है ज़िंदगी' पृष्ठभूमि में बजता है। गुओ अब भारत में ही रहने लगती है। डॉ. कोटनीस भारत में जन्मे हैं, लेकिन चीन में जान देते हैं। चीनी सैनिकों से उनका जुड़ाव हो जाता है। इस क्रम में उनका अपने देश से जुड़ाव कम नहीं होता। इसी तरह चीन में जन्मी गुओ भारत आ जाती है। भारत में रहने से उसका देशप्रेम कम नहीं होता। यहाँ सार्वदेशिकता यह है कि देशप्रेम और राष्ट्रवाद के कारण देशों से नफ़रत करने की जो धारणा बनाई गयी है उसे यह फ़िल्म नकारते हुए बताती है कि आप अपने देश से प्रेम करते हुए भी दूसरे देश से और उसके नागरिकों से अंतरंगता क़ायम कर सकते हैं। फ़िल्म स्थानीयता, राष्ट्रीयता और सार्वदेशिकता के बीच अंतर्विरोध को भंग कर देती है और सभी को मानवता के एक धरातल पर ला कर खड़ा कर देती है। फ़िल्म बहुत महत्त्वपूर्ण इसलिए भी थी क्योंकि यह उस समय में आयी जब हमारे देश में हिंदू राष्ट्रवाद सिर उठा रहा था। इस फ़िल्म ने नेहरूवादी रैडिकल सार्वदेशिकता[15] को एक ख़ास तरह की आभा भी प्रदान कर दी। हालाँकि फ़िल्म को देखने का निमंत्रण देने पर पण्डित नेहरू, गाँधी और कई बड़े नेताओं ने इस प्रस्ताव को ख़ारिज कर दिया था। केवल विजयलक्ष्मी पण्डित ने ही इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। दरअसल, जिस दक्षिण-दक्षिण एकजुटता की बात नेहरू कह रहे थे, उसकी परिकल्पना शांताराम ने बहुत पहले कर ली थी। फ़िल्म को अंग्रेज़ी में भी प्रदर्शित किया गया। फ़िल्म सफल भी रही और उसने वेनिस फ़िल्म महोत्सव में सर्वश्रेष्ठ पटकथा के लिए पुरस्कार भी जीता।

डॉक्टर कोटनीस की अमर कहानी की तरह 1967 में निर्देशक मोहन कुमार ने एक फ़िल्म बनाई *अमन*।[16] इसमें राजेंद्र कुमार और सायरा बानो बतौर अभिनेता और अभिनेत्री थे। विश्व भर में शांतिवादी

---

[15] नीरा चंदोक (2014).

[16] 'अमन' (1967).
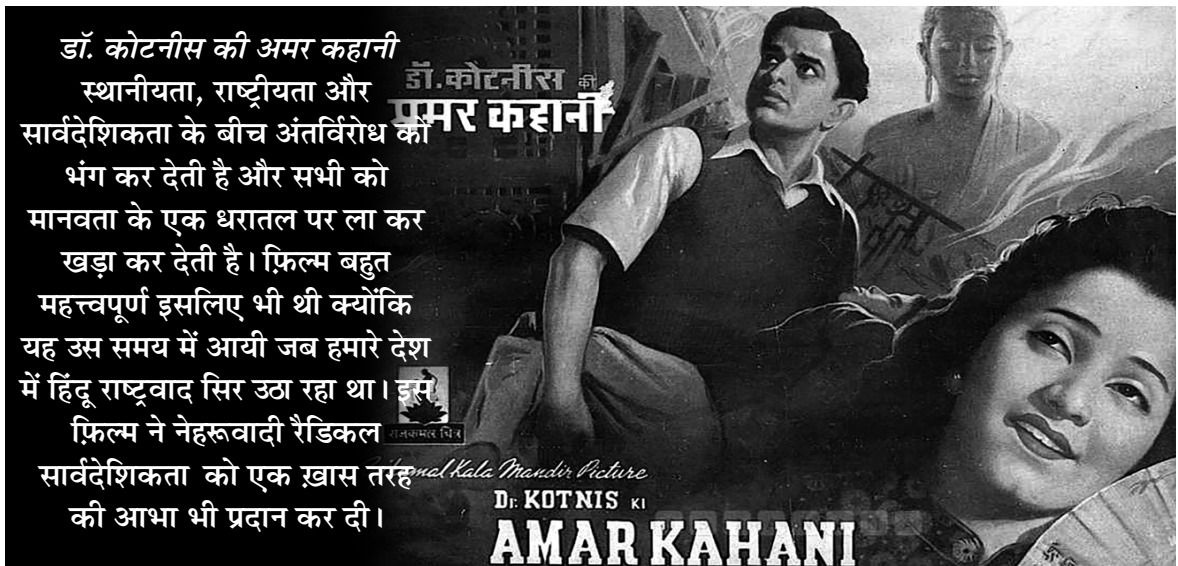
आंदोलन के प्रणेता एवं परमाणु बम के विरोधी बर्ट्रेण्ड रसेल इस फ़िल्म में ख़ुद पर्दे पर आते हैं। राजेंद्र कुमार ने फ़िल्म में डॉक्टर की भूमिका निभाई है। वे अपनी पढ़ाई ख़त्म कर बर्ट्रेण्ड रसेल से मिलने जाते हैं जहाँ दोनों बीसवीं सदी में युद्ध के भयावह परिणामों पर चर्चा करते हैं और शांति के प्रचार-प्रसार का प्रण लेते हैं। शुरुआती दृश्य रंगून का है जहाँ कुछ लोग युद्ध से बचने के लिए जंगल के रास्ते जा रहे हैं। वहाँ भी लड़ाकू विमान से बम बरसाए जाते हैं जिससे काफ़ी लोग मारे जाते हैं। डॉक्टर गौतम दास (राजेंद्र कुमार) लंदन से डॉक्टरी पढ़कर आने के बाद जापान जा कर हिरोशिमा में परमाणु बम की त्रासदी से प्रभावित होने वाले लोगों की मदद करना चाहते हैं। डॉक्टर गौतम दास को बार-बार जापान में बुद्ध की प्रतिमा के सामने इस तरह दिखाया जाता है जैसे वे शांति के दूत बुद्ध की ही छवि हों। डॉक्टर को एक जापानी लड़की मेलोडा (सायरा बानो) से प्रेम हो जाता है जिसने शांतिनिकेतन में पढ़ाई की है इसलिए हिंदी बोलना जानती है। फ़िल्म के पहले दृश्य में जहाँ बुद्ध की प्रतिमा है, वहीं रवींद्रनाथ ठाकुर की प्रतिमा भी है। रवींद्रनाथ सार्वदेशिकता के बड़े प्रतीक हैं। फ़िल्म में हिरोशिमा शाति संग्रहालय और युद्ध के विवरणात्मक दृश्य को भी दिखाया गया है। डॉक्टर दास रेडिएशन से हुए रोग के निदान की खोज करते हैं और प्रसिद्धि पाते हैं। फ़िल्म के अंत में रेडिएशन से घायल हुए मछुआरों के एक समूह को डॉक्टर बचाने जाते हैं और ख़ुद उसके शिकार हो जाते हैं। भारत लौटने के बाद वे जीवन के अंतिम क्षण में विश्व के नेताओं से अपील करते हैं कि दुनिया को तबाह होने से बचाने के लिय एटम बम के निर्माण को रोका जाए और नाभिकीय ऊर्जा का इस्तेमाल शांति के लिए किया जाए। *अमन* युद्ध से क्षत-विक्षत जापान की त्रासदी और तकनीकी कुशलता को दिखाती ही है, साथ एक ऐसे व्यक्ति को भी दिखाती है कि जो ख़ुद की क़ीमत पर मानवता की सेवा में अपनी जान दे देता है। वह अपने समुदाय के बाहर 'अन्य' के लिए अपने आत्म का त्याग करता है। यहाँ हम आंतरिक सार्वदेशिकता की एक झलक देखते हैं।

व्ही शांताराम की फ़िल्म *दो आँखें बारह हाथ* (1957)[17] की चर्चा सार्वदेशिकता के संदर्भ में ज़रूरी है। इस फ़िल्म को कई अंतर्राष्ट्रीय समारोहों में दिखाया गया। फ़िल्म आधुनिक राष्ट्र-राज्य की

[17] व्ही शांताराम (1957), *दो आँखें बारह हाथ.*

न्याय व्यवस्था पर कटाक्ष करती है। इस फ़िल्म से जुड़ा एक तथ्य यह है पहले इसे *कान* और *बर्लिन* जैसे विदेशी फ़िल्मोत्सवों में स्वीकृति मिली, भारतीय दर्शकों ने इसकी तरफ़ बाद में रुख़ किया। इस फ़िल्म में एक जेलर अपने सबसे ख़तरनाक बारह क़ैदियों के साथ आधुनिक न्याय-व्यवस्था के दण्ड प्रावधान के विपरीत एक गाँधीवादी प्रयोग करता है। सज़ा के लिए दण्ड की बजाय जेलर द्वारा इन क़ैदियों में अंदरूनी सुधार की कोशिश की जाती है और क़ैदियों को सुधारने की प्रक्रिया में ख़ुद उसकी ही जान चली जाती है। जेलर की मौत के बाद क़ैदी अपनी सभी बुरी आदतें छोड़ देते हैं और एक सामान्य नागरिक की तरह सभ्य-जीवन जीने लगते हैं।

फ़िल्म का मुख्य विषय ही सार्वभौमिक है जिसके दो मुख्य आयाम हैं। पहला कि भारत जैसा परम्परागत समाज जब आधुनिकता और उसके अन्य आयामों को बिना प्रश्न किये अपना लेता है तो साथ में वह आधुनिकता और उपनिवेशवाद के उस शोषण संबंधी प्रक्रिया को भी अपना लेता है जो शुरुआत से ही शक्ति पर आधारित है और हमारी निजी ज़रूरतों और संदर्भ के अनुसार काम नहीं करती। ऐसा प्रतीत होता है कि शांताराम संकर अस्तित्व की जटिलताओं को आम भाषा में जनता के सामने लाते हैं। दूसरी तरफ़ यह फ़िल्म गाँधी के सिद्धांतों के व्यावहारिक प्रयोग को पूरी दुनिया के सामने रखती है। यह फ़िल्म गाँधी के आसक्ति सिद्धांत, लोगों से जुड़ने और उनके बीच काम करने, अपराधियों की बजाय अपराध को दूर करने के उनके विचारों को दुनिया भर में फैलाती है। 'स्व' की जगह 'पर' से जुड़ने की प्रक्रिया में आत्मपीड़ा (सत्याग्रह) के महत्त्व को बताती है। आत्मपीड़ा सहन करके व्यक्ति केवल अपना प्रतिरोध ही दर्ज नहीं करता, बल्कि दूसरों के मन में अपने प्रति संवेदना भी पैदा करता है जिसकी वजह से 'पर' भी संवेदनशील हो जाता है। इस प्रकार 'स्व' और 'पर' एक दूसरे के प्रति आसक्त हो जाते हैं। फ़िल्म में जेलर इस सिद्धांत को अपनाते हुए और धीरे-धीरे उन खूँख़ार क़ैदियों में परिवर्तन लाते हैं। क़ैदियों का मानवीय गुणों के प्रति संवेदनशील होना, मानवता को अपनाना उनके भीतर हो रहे आंतरिक परिवर्तन को दिखलाता है। इसे आंतरिक सार्वदेशिकता के तौर पर भी समझा जा सकता है। शांताराम की उपर्युक्त दोनों फ़िल्मों और अमन में व्यापक मानवता के हित में आत्मत्याग के महत्त्व का निरूपण किया गया है। सिर्फ़ अपने बारे में सोचना छोड़ कर जब 'अन्य' से जुड़ाव होगा तो सार्वदेशिकता सम्भव होगी।

हिंदी सिनेमा में सार्वदेशिकता का एक रूप हम गुरुदत्त[18] की फ़िल्मों में देख सकते हैं। गुरुदत्त आधुनिक समाज के स्थापित मानकों को चुनौती देते हैं और साथ ही आधुनिकता और परम्परा के बीच कोई विरोधाभास खड़ा किये बिना आधुनिकता को नैतिक बनाने का प्रयास करते हैं। *मिस्टर ऐंड मिसेज 55*[19] में वे परम्परानिष्ठ महिला और एक पितृसत्तात्मक आधुनिक महिला के विकल्प के रूप में एक साधारण आधुनिक महिला, जो कि फ़िल्म की नायिका है, को सामने ला कर रख देते हैं। एक तरफ़ नायिका की दादी हैं जो आधुनिक होने के साथ स्त्रीवादी संगठनों की मुखिया है। दूसरी ओर नायिका की मुलाक़ात नायक के बड़े भाई की पत्नी से होती है जो एकदम परम्परानिष्ठ है और पति के लिए अपना पूरा जीवन समर्पित कर बैठी है। ऐसा प्रतीत होता है कि फ़िल्म नायिका के सामने दोनों विकल्प खोल देती है। इस फ़िल्म के तत्कालीन पोस्टर की बहुत आलोचना हुई थी, क्योंकि इसमें नायिका को पहली तस्वीर में आधुनिक कपड़ों में तो दूसरी तस्वीर में उसे परम्परागत कपड़ों में दिखाया गया था। इसकी व्याख्या इस तरीक़े से की गयी है कि सिनेमा एक आधुनिक उदारतावादी महिला को एक परम्परागत महिला में परिवर्तित कर देता है। फ़िल्म की इस व्याख्या पर मेरी आपत्ति है। फ़िल्म के नायक और नायिका आधुनिक और सार्वदेशिक हैं। वे आधुनिक कपड़े पहनते हैं और आधुनिक

[18] गुरुदत्त.

[19] *मिस्टर ऐंड मिसेज* (1955).
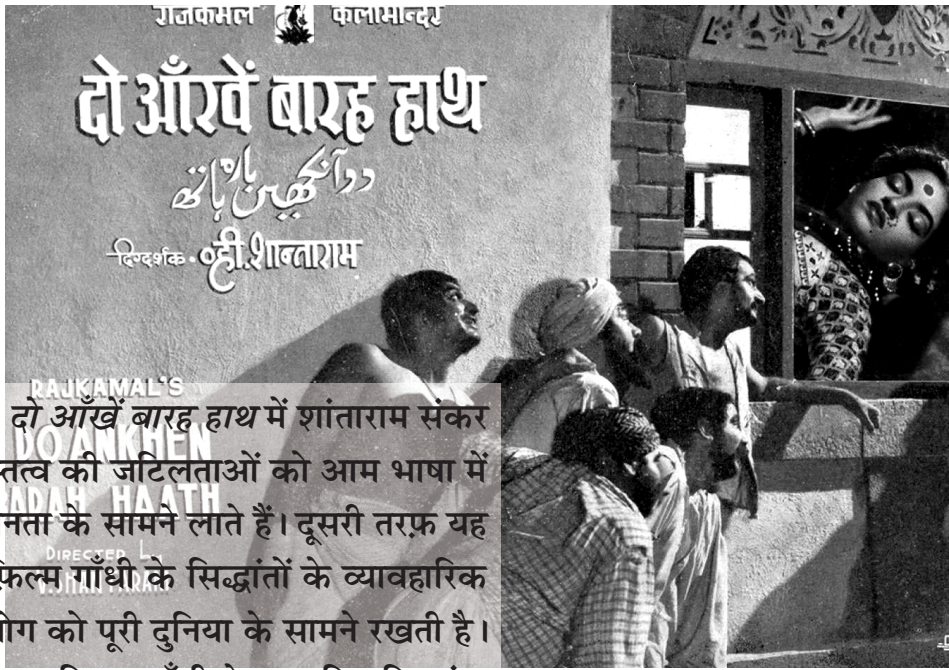
_दो आँखें बारह हाथ_ में शांताराम संकर अस्तित्व की जटिलताओं को आम भाषा में जनता के सामने लाते हैं। दूसरी तरफ़ यह फ़िल्म गाँधी के सिद्धांतों के व्यावहारिक प्रयोग को पूरी दुनिया के सामने रखती है। यह फ़िल्म गाँधी के आसक्ति सिद्धांत, लोगों से जुड़ने और उनके बीच काम करने, अपराधियों की बजाय अपराध को दूर करने के उनके विचारों को दुनिया भर में फैलाती है।

रंग-ढंग अपनाते हैं। सिगरेट पीते हैं और नाइट क्लब भी जाते हैं। फ़िल्म परम्परा और आधुनिकता को एक-दूसरे के समकक्ष ला कर उनमें कोई पदसोपानिक संबंध नहीं क़ायम करती। परम्परा नैतिकता का पर्याय नहीं बनती और आधुनिकता अनैतिकता का। बल्कि दोनों के प्रति क्षोभ और असंतोष को सिनेमा दर्शकों के सामने रखकर उनके सामने खुला विकल्प रखती है। फ़िल्म में पारम्परिकता और आधुनिकता, दोनों के आलोचनात्मक पहलू प्रस्तुत हुए हैं।

मिस्टर ऐंड मिसेज 55 में नायक एक कार्टूनिस्ट है जो निहायत आधुनिक पेशा है। विवाह को नायक एक अनुबंध मानने से इनकार कर देता है जबकि पश्चिम में विवाह को सबसे पहले एक भावनात्मक और यौनिक (इमोशनल और सेक्सुअल) अनुबंध समझा जाता है। फ़िल्म में एक महिला को प्रेम के माध्यम से परिवर्तित होते दिखाया गया है जो पहले आधुनिक तो थी पर उसकी अपनी कोई सोच नहीं थी। अंततः वह एक ऐसी महिला में परिवर्तित हो जाती है जो पितृसत्ता के सामने घुटने टेकने से मना कर देती है पर उसके साथ ही मानवीय संबंधों के प्रति एक विश्वास भी अर्जित करती है जिसमें वह सार्वभौम समानता के साथ स्त्री-पुरुष संबंध में मानवीयता को सर्वोपरि मानने लगती है। ग़ौरतलब है कि फ़िल्म में दिखाए गये शहर में एयरपोर्ट से लेकर नाइट क्लब तक, आधुनिकता की जगहों को कुछ ऐसे दिखाया जाता है कि जैसे शहर राष्ट्र का विकल्प हो। फ़िल्म पश्चिमी नारीवाद के अनिवार्य बना दिये गये रूप की हल्की-फुल्की आलोचना भी करती है। फ़िल्म के ज़रिये गुरुदत्त ने एक ऐसे नायक और नायिका को रचा जो आधुनिक तो हैं, पर जिनकी अपनी जाति और धर्म भी है, जो नैतिक भी हो सकता है और भावनात्मक भी। गुरुदत्त ऐसे आधुनिक चरित्रों की परिकल्पना करते हैं जो राष्ट्रीय-आधुनिक से बिल्कुल अलग हैं और सार्वदेशिक-आधुनिक हैं। एक सार्वदेशिक-

आधुनिक किसी धर्म का हो भी सकता है, नहीं भी। वह नैतिक हो भी सकता है, नहीं भी। वह चरित्रवान हो भी सकता है, नहीं भी। अत: सार्वदेशिक आधुनिक राष्ट्रीय-आधुनिक से अलग है। हिंदी सिनेमा में अक्सर राष्ट्रीय-आधुनिक को महत्त्व दिया गया है, जो अधिकतर नैतिक, चरित्रवान, हिंदू होता है। गुरुदत्त इन फ़िल्मों के माध्यम से वैश्विक और क्षेत्रीय को अपने नायक के माध्यम से एक धरातल पर ले आते हैं। आधुनिकता और परम्परा के बीच हर प्रकार की पदसोपानिकता ख़त्म करने की कोशिश करते हैं। वे आधुनिकता की अवधारणा को राष्ट्रीयता के बोझ से मुक्त करते हैं।

अपनी फ़िल्मों *प्यासा* (1957), *काग़ज़ के फूल* (1959) और *साहेब, बीवी और ग़ुलाम* (1964)[20] में गुरुदत्त उस संकरता की आलोचना करते हैं जो भारतीय समाज के औपनिवेशिक आधुनिकता के सम्पर्क में आने से पनपी है। वे अपनी फ़िल्म में आधुनिक और सामंतवादी, दोनों तरह के शोषण की आलोचना करते हैं। गुरुदत्त की इन फ़िल्मों ने विश्व में भारतीय सिनेमा को एक नयी पहचान दिलायी। इन फ़िल्मों की सिनेमैटोग्राफ़ी, लाइट और कैमरे का इस्तेमाल, संगीत, ध्वनि, स्थानीयता और समन्वयवादिता ने गुरुदत्त को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति दिलवायी। लाइट के विशेष इस्तेमाल के कारण उनकी तुलना *सिटीज़न केन*[21] के यशस्वी निर्देशक ओरसन वेलेस से की जाने लगी। फ्रांस, जापान और जर्मनी ने *प्यासा* को विशेष रूप से पसंद किया। 1984 में फ़िल्म का फ्रांस में प्रीमियर किया गया। यह फ़िल्म इसलिए भी महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि यह महानगरीय जीवन के एकाकीपन, और स्वार्थी रवैये को भी दिखाती है। महानगरीय जीवन के दोहरेपन, जिसमें किसी भी क़ीमत पर आगे बढ़ने की होड़ है, जिसमें पूँजीवादी वर्ग के जीवन का एकमात्र लक्ष्य आगे बढ़ना है, और वहीं साथ में एक ऐसे वर्ग का भी चित्रण है जो शहर के दबे-कुचले लोग हैं। जैसे एक वेश्या गुलाबो, एक चम्पीवाला अब्दुल सत्तार और एक विफल कवि विजय। हम चाहे *मिस्टर ऐंड मिसेज 55* देखें या *प्यासा* दोनों ही फ़िल्मों में शहर एक मुख्य चरित्र के रूप में उभरता है। शहर, जिसमें असमानता, प्रतियोगिता और अमानवीयता जीवन का एक तरीक़ा बन चुका है।

सार्वदेशिकता को सिनेमा के माध्यम से समझने के लिए मैं गुरुदत्त की एक और फ़िल्म *साहेब, बीवी और गुलाम* (1964) की चर्चा करना चाहती हूँ। फ़िल्म एक सामंतवादी परिवार की सबसे छोटी बहू की कहानी है। फ़िल्म सामंतवादी पारिवारिक व्यवस्था के अंदरूनी खोखलेपन, उसके शोषणपूर्ण पितृसत्तात्मक स्वरूप, और ढलते हुए गौरव, औपनिवेशिकता द्वारा सामंतवाद के ख़िलाफ़ चलाई गयी मुहिम, आज़ादी के आंदोलन के प्रति सामंतवादियों की चुप्पी और उदासीनता, ब्रह्म समाज जैसी संस्थाओं की प्रगतिशीलता के स्वाँग जैसे अनेक पहलुओं पर एक आलोचनात्मक निगाह डालती है। पर इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है फ़िल्म में चारदीवारी के भीतर छोटी बहू की वेदना को उजागर करने की प्रक्रिया। छोटी बहू अपने विवाह को लेकर बहुत उत्साहित है और एक नवविवाहिता होने के नाते अपने पति के साथ जीवन गुज़ारना चाहती है। परंतु छोटी बहू के पति यानी छोटे हुज़ूर के लिए ऐसा करना उनकी मर्दानगी के ख़िलाफ़ है। छोटी बहू अपनी यौनेच्छा का दमन नहीं कर पाती और अपने पति को आसक्त करने के लिए पारम्परिक और चरित्रवान बने रहने के तयशुदा गुणों को छोड़ रूप और नशे का सहारा लेती है। फिर भी उसे पति की उपेक्षा झेलनी पड़ती है और फिर उसका भावनात्मक जुड़ाव परिवार के सेवक (भूतनाथ) से हो जाता है।

गुरुदत्त एक बार फिर परिवार के दबे, कुचले, सताये हुए लोगों में एक जुड़ाव दिखाते हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि इसमें सार्वदेशिक क्या है? फ़िल्म में छोटी बहू का चरित्र पूरी तरह से भारतीय है। वह पारम्परिक कपड़े पहनती है, बिंदी लगाती है, घर की चारदीवारी में क़ैद हो कर अपनी कामना का

[20] *प्यासा (1957), काग़ज़ के फूल (1959)* और *साहेब, बीवी और गुलाम (1964).*
[21] सिटीज़न केन, (1941).

दमन करती है। परंतु जिस तरह से फ़िल्म एक महिला की विवशता और कामना के दमन का चित्रण करती है, जिस तरह छोटी बहू पति और परिवार की उपेक्षा झेलती है, जिस तरह फ़िल्म उस वेदना को चित्रित करती है— ऐसा लगने लगता है कि यह दुख, अपमान, अवसाद हर उस महिला का हो सकता है जिसे विवाह के रिश्ते में बराबरी के अधिकार और पारस्परिकता के भाव से वंचित करके ग़ैर-बराबरी और उपेक्षा की दलदल में डाल दिया है। यहीं फ़िल्म वैश्विक और क्षेत्रीय को एक साथ ले आती है। वह जितनी स्थानीय लगती है, उतनी ही सार्वदेशिक हो जाती है।

गुरुदत्त की फ़िल्मों में सांगीतिक सार्वदेशिकता देखने को मिलती है। संगीत, सीमा संबंधी, भाषाई और सांस्कृतिक अवरोध तोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गुरुदत्त की फ़िल्मों में गानों के इस्तेमाल से पटकथा को आगे बढ़ाया जाता है। गानों का इस्तेमाल केवल भावनात्मक आंतरिकता ही नहीं, चरित्रों के सामाजिक वर्ग की सम्पूर्ण जीवन-शैली और रहन-सहन को पर्दे पर उकेर देता है। इन फ़िल्मों के गानों की अधिकांश लोकेशन वे जगहें हैं जो निर्वासितों और सर्वहाराओं को शरण देती हैं। ऐसे लगता है जैसे बड़े शहरों में गलियाँ ही उनका घर हैं जहाँ चरित्र निश्चिंतता और ख़ुशी के कुछ पल गुज़ार सकते हैं। चाहे वह *प्यासा* का चम्पी वाला हो या कवि, उन्मुक्त गाती बजाती लड़कियों का झुण्ड (*मिस्टर ऐंड मिसेज 55*) हो, या फिर सीआईडी का पॉकेटमार— सब के सब भौतिकवादी आधुनिक समाज में सड़क पर ही शरण लेते हैं। सड़क राष्ट्र का एक विकल्प बन जाती है। गलियाँ सहअस्तित्व और उन्मुक्तता का पर्याय बन जाती हैं और यहीं पर फ़िल्म सार्वदेशिक स्वरूप ले लेती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शहर की इन गलियों का अपना एक जीवन-संसार है जिसका स्थानीयता से कोई लेना-देना नहीं। ये शहर कहीं भी हो सकते हैं। किसी भी देश में जहाँ समाज के आर्थिक और सामाजिक रूप से उपेक्षित लोग रहते हैं।

विमल राय (1909-1965) भारत के उन निर्देशकों में से थे जिन्होंने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। उन्होंने भारत में सामाजिक और स्त्री केंद्रित फ़िल्में बनाने में अहम भूमिका निभायी। वे नवयथार्थवादी सिनेमा से प्रभावित थे जिसके असर में उन्होंने *दो बीघा ज़मीन*[22] बनायी। इसे पहला फ़िल्मफेयर अवार्ड मिला था और इसे

चाहे वह *प्यासा* का चम्पी वाला हो या कवि, उन्मुक्त गाती बजाती लड़कियों का झुण्ड (*मिस्टर ऐंड मिसेज 55*) हो, या फिर *सीआईडी* का पॉकेटमार— सब के सब भौतिकवादी आधुनिक समाज में सड़क पर ही शरण लेते हैं। सड़क राष्ट्र का एक विकल्प बन जाती है। गलियाँ सहअस्तित्व और उन्मुक्तता का पर्याय बन जाती हैं और यहीं पर फ़िल्म सार्वदेशिक स्वरूप ले लेती है। ऐसा प्रतीत होता है कि शहर की इन गलियों का अपना एक जीवन-संसार है जिसका स्थानीयता से कोई लेना-देना नहीं।

[22] *दो बीघा ज़मीन (1953).*

कान फ़िल्म महोत्सव में भी पुरस्कृत किया गया था। वे उन पहले निर्देशकों में से थे जो बार-बार राष्ट्र-निर्माण को सिनेमा के केंद्र में ला रहे थे, लेकिन इसके साथ ही सिनेमा माध्यम की अंतर्राष्ट्रीयता को भी उन्होंने बख़ूबी समझा। जुलाई, 1953 में मास्को फ़िल्म फ़ेस्टिवल में एक व्याख्यान में उन्होंने सिनेमा की अंतर्राष्ट्रीयता को रेखांकित करते हुए कहा था कि एक कला-माध्यम के रूप में सिनेमा साधारण और असाधारण मसलों पर वैश्विक बंधुत्व की भावना क़ायम कर सकता है। उनकी फ़िल्मों में भी साधारण मनुष्य का जीवन वैश्विक दृष्टि से फ़िल्माया गया है। सार्वदेशिकता के संदर्भ में मैं *काबुलीवाला*[23] की चर्चा करना चाहती हूँ जो रवींद्रनाथ ठाकुर की कहानी पर आधारित है। रवींद्रनाथ में बच्चों की आँखों से दुनिया को दिखाने की ललक थी और वे इसमें कुशल भी थे। उनका व्यक्तित्व सही मायनों में सार्वदेशिक था। *काबुलीवाला* एक भारतीय बच्ची और एक अफ़ग़ान व्यापारी अब्दुल रहमान खान के बीच पनपे स्नेह की कहानी है। कहानी उस प्रक्रिया को दिखाती है जिसमें एक बच्चा एक अजनबी के साथ स्नेह में बंधने लगता है। यहाँ भी प्रेम और यात्रा का संयोग है। अफ़ग़ान व्यापारी अपने देश से भारत पैसे कमाने की तलाश में आया है। उसके पीछे उसके घर में उसकी बच्ची है। भारत में मिनी को देखने के बाद वह उसमें अपनी बेटी की छवि देखता है और उससे मिलने रोज़ आने लगता है। अन्य लोग मिनी के प्रति पठान के स्नेह को न तो समझ पाते हैं और न ही स्वीकार कर पाते हैं। पहले दृश्य से ही उसको शक की निगाह से देखा जाने लगता है। उसका अजनबीपन उसके कपड़ों, भाषा और व्यवहार में है। लोग उसे बच्चों का अपहरण करने वाला समझते हैं। यह एक ऐसा मिथक है जो अफ़ग़ान व्यापारियों के बारे में भारतीय घरों में प्रचलित था। फ़िल्म इसे तोड़ती है। परिस्थितिवश *काबुलीवाला* एक अपराध में फँस जाता है, पर भागने की बजाय वह सज़ा काटना तय करता है और अपने ऊपर लगाए इल्ज़ाम क़बूल कर लेता है। जेल से छूटने के बाद वह मिनी से मिलने आता है जिसकी शादी हो रही है। उसे देखने के बाद वह अपनी बच्ची अमीना की याद में विचलित हो जाता है। मिनी के पिता शादी के दूसरे इंतज़ामों पर होने वाला ख़र्च काट कर पैसा पठान को दे देते हैं ताकि वह वापस अपने घर लौट कर बेटी से मिल सके। फ़िल्म दिखाती है कि शादी पर कम ख़र्च का फ़ैसला मिनी और उसके पिता दान की भावना से नहीं लेते, बल्कि *काबुलीवाला* के मिनी के प्रति स्नेह के प्रतिदान और इस साझेपन की भावना के कारण करते हैं। पठान से वे आत्मीय तौर पर जुड़ जाते हैं। अफ़गान का मिनी के प्रति स्नेह उसे लड़की के पिता के समकक्ष खड़ा कर देता है। दूसरों से अपनापन बना लेने का उसका स्वभाव अंततः उसके प्रति सभी के शक के नज़रिये को बदल देता है। मिनी के पिता और उसके बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है। मिनी के पिता *काबुलीवाला* के एक पिता होने के दर्द को समझ लेते हैं जो अपनी बेटी से अलग हो गया है। दोनों की पहचान एक बेटी के बाप के रूप में हो जाती है। अन्य पहचानें घुल-मिल जाती हैं। देश का बंधन ग़ायब हो जाता है, मानवीय रिश्ता प्रबल हो जाता है। फ़िल्म एक *काबुलीवाले* की कहानी कम और पिता-पुत्री के सार्वभौम प्रेम की कहानी ज़्यादा बन जाती है जो भारत, अफ़ग़ानिस्तान या विश्व के किसी भी देश में एक जैसी ही हो सकती है।

राज कपूर की फ़िल्में रूस और मध्य एशिया के देशों में बहुत लोकप्रिय हुईं। *आवारा* (1951), *श्री 420* (1955) और *बूट पॉलिश* (1954)[24] जैसी फ़िल्में शहर और उसमें रहने वाले विभिन्न वर्गों की जीवन-शैली को एक किरदार के रूप में उभारती हैं। इन फ़िल्मों में शहर की एक सार्वदेशिक सब्ज़ी छवि उभरती है। शहर की गलियों में सब्ज़ी वाले, ठेले वाले, बूट पॉलिश वाले ऐसे दिखाए जाते हैं जैसे शहर पर उनका दावा स्थापित किया जा रहा हो। शहर केवल उच्चवर्ग का ही नहीं है

---

[23] *काबुलीवाला* (1961).

[24] *आवारा (1951), श्री 420 (1955), बूट पॉलिश (1954).*

ऐसा लगने लगता है कि यह दुख, अपमान, अवसाद हर उस महिला का हो सकता है जिसे विवाह के रिश्ते में बराबरी के अधिकार और पारस्परिकता के भाव से वंचित करके ग़ैर-बराबरी और उपेक्षा की दलदल में डाल दिया है। यहीं फ़िल्म वैश्विक और क्षेत्रीय को एक साथ ले आती है। वह जितनी स्थानीय लगती है, उतनी ही सार्वदेशिक हो जाती है।

सबका है। यहाँ *जागते रहो* फ़िल्म की चर्चा ज़रूरी है जो शहरी स्पेस के पाखण्ड को उजागर कर देती है। यह उन सशक्त फ़िल्मों में से है जो शहरी मध्यवर्ग के जीवन के विविध पहलुओं को एक बाहरी अजनबी की निगाह से दिखाती है। यह अजनबी शहर आते ही दोहरे जीवन का सामना करता है। फ़िल्म की कहानी अजनबी की प्यास और उसके द्वारा पानी की तलाश के इर्द-गिर्द घूमती है। रात में अजनबी शहर के एक घर में घुसता है और उसे चोर समझ लिया जाता है। पूरा अपार्टमेंट और शहरी उसे चोर समझते हैं। वह अपनी जान बचाने के लिए एक जगह से दूसरी जगह घूमता रहता है और तथाकथित ईमानदार मध्यवर्गीय जीवन के छुपे हुए कोनों और दोहरेपन का अवलोकन करता है। रात का फ़िल्म में रूपक के तौर पर इस्तेमाल किया गया है जिसमें शहरी जीवन के राज़ छुपे रहते हैं। वे बाहर से नैतिक और चरित्रवान बनने का दिखावा करते हैं, लेकिन उनका अपना जीवन अनैतिकता और झूठ में लिपटा हुआ है।

वह अजनबी शहर के जीवन के अनदेखे, नैतिक रूप से भ्रष्ट और दिवालिया हो चुके हिस्से को देखता है। वह इस शहरी समाज के 'सबॉल्टर्न अन्य' के रूप में बदल जाता है जिस पर शक किया ही जाना चाहिए। सिनेमा के एक अहम दृश्य में खिड़की का शीशा टूटता है, कैमरा टूटे हुए शीशे से ईसा को दिखाता है जो क्रॉस पर टँगे हुए हैं। एक दृश्य में अजनबी भी दीवार पर इसी मुद्रा में खड़ा दिखता है जिसे वहाँ शहरी लोगों ने पहुँचा दिया है। यानी जो भी शहरों में पल रहे स्वार्थी मध्यवर्ग से अलग है उसे शहरी नैतिकता की सूली पर चढ़ाया जा सकता है। अंत में एक मंदिर में अजनबी को एक औरत पानी पिलाती है। सुबह सूर्य की रोशनी के साथ रात की अफ़रा-तफ़री थम जाती है। मानवता अमानवीयता और असामाजिकता पर विजय प्राप्त करती है। इस फ़िल्म में भी राजकपूर चार्ली चैपलिन जैसे किरदार में हैं जो फटे कोट में नज़र आते हैं और अपने चेहरे से पेंटोमाइम के ज़रिये संवेदनाएँ व्यक्त करते हैं। यह फ़िल्म शहरी मध्यवर्गीय जीवन की सामाजिक आलोचना शहर की संरचना के एक उदाहरण और उस दुनिया में घुस आये एक बाहरी की वजह से मची उथल-पुथल के माध्यम से प्रस्तुत करती है।

देव आनंद[25] (1923-2011) हिंदी सिनेमा में लम्बे समय तक काम करने वाले अभिनेताओं में से एक रहे हैं। हिंदी सिनेमा के सार्वदेशिक चरित्र को गढ़ने में उनकी विशेष भूमिका थी। अपने भाई चेतन आनंद की सहायता से 1949 में नवकेतन फ़िल्म्स स्थापित कर देव आनंद ने हिंदी सिनेमा में *बाज़ी* (1951), *सीआईडी* (1956), *नौ दो ग्यारह* (1957) जैसी फ़िल्मों से *नुआर* फ़िल्मों की शैली स्थापित

[25] देव आनंद (2007).

करने में अहम भूमिका निभायी। इन सभी फ़िल्मों में हीरो देव आनंद ख़ुद होते थे। विश्व में सभी जगहों पर नुआर फ़िल्में बनाई जाती हैं और उनका एक सार्वदेशिक प्रभाव होता है। देव आनंद की फ़िल्मों में अंतरराष्ट्रीय शैली की नुआर फ़िल्मों की तरह प्रकाश-छाया का खेल, पेचीदा कथावस्तु और शैलीबद्ध थियेट्रिकल अभिनय होता था। देव आनंद को इस कारण अंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिली।

अपनी आत्मकथा *रोमांसिंग विद लाइफ़* में देव आनंद[26] ने साफ़ कहा है कि उनकी इच्छा ऐसे चित्ताकर्षक लोकेशनों और अनजाने दर्शनीय स्थलों को दिखाने की थी जो सिनेमा में अब तक न आये हों। फ़िल्म बनाने का नज़रिया अपनी प्रकृति में ही सार्वदेशिक था। जैसा कि देव आनंद कहते हैं 'फ़िल्म बनाना बहुत रोमांचक है, एक रोमांच है आत्मा, दिमाग़ और शरीर के लिए। आपका मन लाखों मील पार कर जाता है, दुनिया के हर कोने से कहानी और चरित्र गढ़ता है।' उनकी फ़िल्मों का विचार अपने समय के सामान्य जीवन से जुड़ा हुआ था। उनका कहना था, 'निर्देशक के रूप में मैंने हमेशा उन विषयों को चुना जो हमारे समय में प्रासंगिक थे, जो मेरी आँखों को लुभाते थे और मेरे कान हमारे रोज़मर्रा के जीवन को प्रभावित करने वाली सुर्ख़ियों, समस्याओं को सुनते थे।' नये स्थलों को उद्घाटित करना हमेशा से उनकी फ़िल्मों का लक्ष्य था। अपने छोटे भाई को दिये गये निर्देश में यही दिखता है। विजय आनंद उर्फ़ गोल्डी को नये सस्पेंस थ्रिलर *ज्वेल थीफ़* (1967) के लिए उनकी हिदायत थी, 'मैंने गोल्डी को सुझाया कि ऐसी कोई जगह खोजो जिसे भारतीय सिनेमा में अब तक दिखाया ही नहीं गया हो।' इस तरह इस फ़िल्म को सिक्किम में शूट किया गया जिसे अब तक सिनेमा में दिखाया ही नहीं गया था और उस समय यह राज्य भारतीय गणराज्य का हिस्सा भी नहीं था। नये लोकेशन दिखाने का पैटर्न उनकी बाद की फ़िल्मों में भी जारी रहा। देव आनंद के सिनेमा में विदेशी लोकेशन के साथ कृत्रिम जुड़ाव नहीं था। *देस परदेस* (1978) लंदन में प्रवासी मज़दूरों की दयनीय दशा को केंद्र में रखती है। फ़िल्म को लंदन और न्यूयॉर्क दोनों ही जगह रिलीज़ किया गया था। एक के बाद एक फ़िल्मों में देव आनंद ने सही मायनों में परराष्ट्रीयता के सवाल अपनी फ़िल्मों में उठाए। सार्वदेशिकता पर अन्य फ़िल्मों के साथ देव आनंद की *गाइड* (1965) यात्रा और प्रेम को केंद्र में रखती है जहाँ एक गाइड और विफल प्रेमी जनता के दिल में आशा और उम्मीद को ज़िंदा रखने के लिए अपने जान की क़ुर्बानी दे देता है। यह फ़िल्म आर.के. नारायण के उपन्यास पर बनी थी जिसका *टाइम* पत्रिका ने बॉलीवुड के दस क्लासिक सिनेमा में शुमार किया था। इसे अमेरिका में रिलीज़ करने के लिए देव आनंद ने अमेरिकी लेखिका पर्ल एस. बक और निर्देशक-निर्माता टॉड डानियल्वेस्कि की मदद ली थी।

गाइड[27] फ़िल्म एक ऐसे चरित्र राजू की यात्रा दिखाती है जो एक सामान्य पुरुष है। उसके जीवन में कोई बड़ा लक्ष्य नहीं है। घटनाक्रम लापरवाह, स्वतंत्र और उत्साही राजू को एक ऐसे धर्मगुरु के रूप में बदल देता है जिसे लोगों के भरोसे को ज़िंदा रखने के लिए अपना जीवन बलिदान करना पड़ता है। वह ख़ुद को सभी सांसारिक इच्छाओं से मुक्त करता है और लोगों की ख़ुशी में शांति पाता है। वह जीवन के सच्चे अर्थ और स्वार्थरहित आत्म की उपलब्धि कर लेता है। वह दूसरों के सुख और शांति में सुख पाता है। इसलिए यह फ़िल्म हमें एक व्यक्ति के आंतरिक रूप से सार्वभौम हो जाने की यात्रा पर ले जाती है। यह शख़्स पहले अपने स्वार्थ में हमेशा लिप्त रहता था, पर जब एक बार लोग उसे

---

[26] वही.

[27] *गाइड (1965)*. इस फ़िल्म के निर्देशक विजय आनंद थे जिनके निर्देशकीय कौशल की सराहना भी हुई थी. देव आनंद निर्माता और अभिनेता थे जिनके निजी रुझानों और सिनेमा के पाठ के कारण हम इसका अध्ययन कर रहे हैं. देव आनंद की सार्वदेशिक छवि थी. दरअसल, उनकी वैश्विकता की वजह से हिंदी सिनेमा की अंतर्राष्ट्रीयता और बढ़ी है. लगभग ऐसा ही गुरुदत्त और राजकपूर के संदर्भ में हुआ है. अभिनेता और निर्माता पर ज़ोर देने के पीछे निर्देशकों की उपेक्षा का मक़सद नहीं है, बल्कि इन विख्यात हस्तियों की वजह से ये फ़िल्में रूस (जहाँ राज कपूर लोकप्रिय थे) और अन्य देशों में देखी और जानी गयीं.

महापुरुष की तरह देखने लगते हैं तो वह उनके विश्वास को बहाल रखने के लिए अपना जीवन दे देता है। इस प्रक्रिया में धर्म के संगठित चरित्र से अभिन्न रूप से जुड़े अंधविश्वास पर व्यंग्य भी है। फ़िल्म धर्म को बिलकुल अलग अर्थ में परिभाषित करती है। फ़िल्म ऐसे धर्म के स्वरूप को नकारती है जो लोगों की पहुँच से बाहर है। वह इसे व्यक्तिगत आशा और विश्वास के आधार पर आध्यात्मिकता से जोड़ती है। इस प्रकार इस फ़िल्म में आध्यात्मिकता और धर्म के सार्वभौम और सार्वदेशिक रूप की सम्भावना है। साथ ही यह हिंदू धर्म की जड़ता और अंधविश्वास पर भी टिप्पणी करती है।

***गाइड* हमें एक व्यक्ति के आंतरिक रूप से सार्वभौम हो जाने की यात्रा पर ले जाती है। यह शख़्स पहले अपने स्वार्थ में हमेशा लिप्त रहता था, पर जब एक बार लोग उसे महापुरुष की तरह देखने लगते हैं तो वह उनके विश्वास को बहाल रखने के लिए अपना जीवन दे देता है। ... फ़िल्म ऐसे धर्म के स्वरूप को नकारती है जो लोगों की पहुँच से बाहर है। वह इसे व्यक्तिगत आशा और विश्वास के आधार पर आध्यात्मिकता से जोड़ती है। इस प्रकार इस फ़िल्म में आध्यात्मिकता और धर्म के सार्वभौम और सार्वदेशिक रूप की सम्भावना है।**

साठ के दशक में ऐसी बहुत सी फ़िल्में सामने आयीं जिन्हें विदेश में फ़िल्माया गया था। *चाइनाटाउन* (1960), *संगम* (1964), *लव इन टोक्यो* (1966), *ये ज़िंदगी कितनी हसीन है* (1966), *नाइट इन लंदन* (1967), *ऐन ईवनिंग इन पेरिस* (1967), *अराउंड द वर्ल्ड* (1967), *स्पाच इन रोम* (1968), *पूरब और पश्चिम* (1970)। इन सारी फ़िल्मों में नायक भारत से दूसरे देशों में जाता था। इस प्रक्रिया में उस देश के लगभग सभी दर्शनीय जगहों को दिखाने की कोशिश होती थी। फ़िल्म की आख्यान-संरचना में इन सभी दर्शनीय स्थलों को बुना जाता है। संगीत और नृत्य फ़िल्मों के अहम पहलू थे। हर फ़िल्म में एक गाना होता जिसके मुखड़े में शहर का भी नाम आता था। *ले गयी दिल गुड़िया जापान की* (*लव इन टोक्यो*), *ऐन ईवनिंग इन पेरिस* (*ऐन ईवनिंग इन पेरिस*), *रोमिंग इन रोम* (*स्पाच इन रोम*), 'ज़ुल्फों की कहानी है, ज़न्नत की निशानी है, नगमों की जवानी है, दिलकश सुहानी है, नाइट इन लंदन' (*नाइट इन लंदन*), *अराउंड द वर्ल्ड इन एट डॉलर्स* (*अराउंड द वर्ल्ड*) आदि। इन गानों में पात्र पेरिस, टोक्यो, लंदन, रोम, और वॉशिंग्टन जैसे शहरों में घूमते हैं। ऐसा लगता है कि ये ख़ूबसूरत लोकेशन ऐसी जगह मुहैया कराती हैं जहाँ प्यार और आकांक्षा को विकसित होने का स्पेस मिलता है। ये चित्ताकर्षक लोकेशनें पात्रों को प्रेम अभिव्यक्त करने की जगह देती हैं, और इसी के साथ लोकेशन की रोमांटिक आभा दर्शकों को उपलब्ध हो जाती है।

रंजनी मज़ुमदार विदेशी लोकेशन पर फ़िल्ममेकिंग की इस प्रवृत्ति को देश के आर्थिक और व्यावसायिक विकास के साथ जोड़ कर समझाती हैं। वे बताती हैं कि साठ के दशक का सबसे

महत्त्वपूर्ण सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन था नेहरूवादी दर्शन से बाहर आना जिसने स्वातंत्र्योत्तर दशक के चित्रण को आकार दिया था।[28] 1962 में भारत–चीन युद्ध में भारत की हार इस लिहाज़ से महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि यह राष्ट्रवादी राज्य के लिए सार्वजनिक शर्म का पहला क्षण था। इसके बाद दूसरे मुद्दे थे राजकीय योजनाओं की विफलता, खाद्यान्न की कमी, विदेश मुद्रा भण्डार की कमी और अंततः खाद्यान्न ख़रीदने के लिए अमेरिका की तरफ़ मुड़ना। इसी दशक में पचास के दशक में स्थापित हुई संरचनाएँ, पंचवर्षीय योजना, राष्ट्रीय सम्प्रभुता और स्वावलम्बन का विचार टूटता प्रतीत हुआ।[29] अंतर्राष्ट्रीय रूप से नेहरू के कार्यकाल ने तीसरी दुनिया के विचार गुटनिरपेक्षता को अफ्रो–एशियाई एकजुटता के ज़रिये बांदुंग सम्मेलन के ज़रिये सम्भव किया था।[30] राष्ट्रीय राजनीति के स्तर पर वैश्विक स्पेस इन प्रिज़्मों के ज़रिये छन कर पहुँचता था। नेहरू के बाद के सिनेमा में उपभोक्तावादी कल्पनाओं से अधिक लगाव दिखता है और विकासशील चेतना की नेहरूवादी भाषा से मुक्त होने की कोशिश भी दिखाई पड़ती है।

शहरी मध्यवर्ग के मनोबल को उठाने में इस दौर की फ़िल्मों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और उसे दुनिया के चमकदार हिस्सों की सैर सिनेमा हॉल के भीतर से कराई। दुनिया उनकी पहुँच के भीतर है, इस स्वप्न को पर्दे पर पेश किया गया। साठ के दशक में हिंदी सिनेमा ने इन पर्यटक–स्थलों और स्थानों की भारतीय मध्यवर्ग के बीच 'पोस्टकार्ड कल्पना' विकसित करने का काम किया। 1967 में संयुक्त राष्ट्र की अंतर्राष्ट्रीय पर्यटन वर्ष की घोषणा ने इस प्रक्रिया में मदद की। यात्रा और पर्यटन ने उत्पाद के विपणन और विज्ञापन को प्रभावित किया। रंजनी का तर्क है कि रंगीन फ़िल्मों के आगमन, नये उभरे हुए और विकसित विमानन उद्योग के माध्यम से हवाई शॉट्स के व्यापक उपयोग, हवाई दृश्य और ट्रैवल इमेजरी के परिसंचरण से इन फ़िल्मों को पर्यटन और फ़िल्मों को बढ़ावा देने में मदद मिली। सिनेमाई पर्यटन का विकास हुआ। इन सभी फ़िल्मों से भारत को विदेशी मुद्रा की आमदनी हुई। फ़िल्म निर्माताओं ने भारतीय रिजर्व बैंक से बांड साइन किया था कि वे देश की विदेशी मुद्रा के भण्डार को बढ़ाने में योगदान देंगे।

इन फ़िल्मों ने भीड़ भरी जगहों पर प्रेम की सम्भावना को भी साकार किया। इन फ़िल्मों में हमने देखा है कि एक ओर भारतीय अभिनेता और अभिनेत्रियाँ स्वयं को प्रेम के शारीरिक संकेतों से रोकते हैं, इस सेल्फ़ सेंशरशिप को वे भारतीय मूल्यों की सुरक्षा के लिए ख़ुद पर लागू करते हैं, जबकि दूसरी ओर बहुत सी फ़िल्मों में प्रेम करने की सार्वजनिकता को दिखाया गया। *ऐन ईवनिंग इन पेरिस* की शुरुआत इस विचार के साथ होती है कि नायक सच्चे प्रेम की तलाश में पेरिस जाता है। अगर हम प्रत्येक फ़िल्म की कहानी को विश्लेषित करें तो देख सकते हैं कि भारतीय दूसरे भारतीय के प्रेम में ही नहीं पड़ता, बल्कि उसी समय खलनायक द्वारा पैदा की गयी समस्याओं में भी फँसता है, और अंत में नायक विलेन को पराजित करके सफल होता है। यहाँ विदेश से किसी लगाव या आलोचनात्मक लगाव की सम्भावना नहीं है। चूँकि ये फ़िल्में व्यावसायिक उद्देश्यों को पूरा कर रही हैं, इसलिए इन स्थानों पर जाने की इच्छा पैदा करने में इन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कहने का आशय यह है कि साठ के दशक के हिंदी सिनेमा में जो सार्वदेशिकता थी— उसकी प्रकृति व्यावसायिक थी। ये फ़िल्में हमें युरोप की भौगोलिक यात्रा पर तो ले जाती हैं— पर विदेशी सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों, वहाँ की जीवनशैली आदि को हमेशा संशय की दृष्टि से देखा जाता था और हर फ़िल्म के अंत में 'भारतीयता' की जीत होती थी। आशय यह कि साठ के दशक का यह सिनेमा भौगोलिक सार्वदेशिकता तो प्रदर्शित

---

[28] रंजनी मजूमदार (2011) : 29.
[29] सुदीप्त कविराज (2010).
[30] सुमिता चक्रवर्ती (2005).

जागते रहो **का अजनबी शहर के जीवन के अनदेखे, नैतिक रूप से भ्रष्ट और दिवालिया हो चुके हिस्से को देखता है। वह इस शहरी समाज के 'सबाल्टर्न अन्य' के रूप में बदल जाता है जिस पर शक़ किया ही जाना चाहिए। सिनेमा के एक अहम दृश्य में खिड़की का शीशा टूटता है, कैमरा टूटे हुए शीशे से ईसा को दिखाता है जो क्रॉस पर टँगे हुए हैं। एक दृश्य में अजनबी भी दीवार पर इसी मुद्रा में खड़ा दिखता है जिसे वहाँ शहरी लोगों ने पहुँचा दिया है। यानी जो भी शहरों में पल रहे स्वार्थी मध्यवर्ग से अलग है उसे शहरी नैतिकता की सूली पर चढ़ाया जा सकता है।**

करता है लेकिन आंतरिक तौर पर राष्ट्रवाद को ही पुष्ट करता है।

नब्बे के दशक के बाद हिंदी सिनेमा में इस प्रवृत्ति का विस्तार होता है और विदेशी लोकेशन की पृष्ठभूमि में कहानियाँ रची जाने लगती हैं। यश चोपड़ा, करण जौहर और दूसरे निर्देशक विदेशी लोकेशनों पर कहानियाँ रचने लगते हैं। लेकिन ये फ़िल्में आप्रवासी भारतीयों की आकांक्षा पर आधारित थीं। इनका लक्ष्य भारतीय संस्कृति और परम्परा को पेश करने का था— फ़िल्मों के ज़रिये राष्ट्रवादी कल्पना को साकार करना, आप्रवासी भारतीयों को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और भारतीय सिनेमा को वैश्विक पूँजीवादी प्रक्रिया से जोड़ना। इन फ़िल्मों में सार्वदेशिकता का स्वरूप व्यावसायिक ज़्यादा और पहचानों के संलयित होने से कम संबंधित है, जब कि आरम्भिक दौर की भारतीय फ़िल्मों में, जिनकी चर्चा हमने इस आलेख में की है, भौगोलिक सार्वदेशिकता हो या ना हो आंतरिक सार्वदेशिकता मौजूद है। प्रेम और यात्रा की विषयवस्तु पर बनी ये फ़िल्में व्यक्ति के आंतरिक परिवर्तन की यात्रा को दर्शाती हैं। धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं प्रौद्योगिकीय सार्वदेशिकता इन फ़िल्मों में बिना किसी वैश्विकता के दावे के साथ आती है। फ़िल्में

स्थानीय वेशभूषा, भाषा और संगीत में विन्यस्त हैं, जबकि अपने संदेश, मुद्दों और संवेदनशीलता में पूरी तरह सार्वदेशिक हैं। इनमें 'स्व' और 'पर' का अंतर भूल कर अपने आप को राष्ट्र के साथ-साथ बृहत्तर मानवता की एक इकाई समझने पर ज़ोर है। इस तरह ये फ़िल्में सियासत की इकाई को मानवता से जोड़ने के लिए दर्शकों को व्यापक स्पेस और साझी कल्पना मुहैया कराती हैं।

संदर्भ

आशीष राज्याध्यक्ष (1994), *लाइट ऑफ़ एशिया : इण्डियन सायलेंट सिनेमा : 1912-1934,* नियोगी बुक्स, नयी दिल्ली.

आंद्रे बाज़ाँ (1967), *व्हाट इज़ सिनेमा-I,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले.

एम. माधव प्रसाद (1998), *आइडियोलॅजी ऑफ़ हिंदी फ़िल्म,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

क्वामे एंथॅनी अप्पैया (2006), *कॉस्मोपोलिटनिज़्म : एथिक्स इन वर्ल्ड ऑफ़ स्ट्रेंजर्स,* नॉर्टन, न्युयॉर्क.

क्रेग कल्हून (2002) ,'द क्लास कॉन्सशनेस ऑफ़ फ्रीक्वेंट ट्रैवलर्स : टुवार्ड्स अ क्रिटिक ऑफ़ एक्चुअली एक्ज़िस्टिंग कॉस्मोपोलिटनिज़्म', *द साउथ अटलांटिक क्वार्टर्ली,* खण्ड 101, अंक 4, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस.

कौशिक भौमिक (2001), *दि इमर्ज़ेन्स ऑफ़ बॉम्बे फ़िल्म इंडस्ट्री : 1913-1936,* अप्रकाशित शोध-प्रबंध, युनिवर्सिटी ऑफ़ ऑक्सफ़र्ड.

देव आनंद (2007), *रोमांसिंग विद लाइफ़ : ऐन ऑटोबाइग्राफ़ी,* पेंगुइन, नयी दिल्ली.

नीरा चंदोक (2014), जवाहर लाल नेहरूज़ 'रैडिकल कॉस्मोपोलिटनिज़्म', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 49, अंक 47.

ब्रायन एल. ओट (2010), 'द विस्सरल पॉलिटिक्स ऑफ़ वी फ़ॉर वेंडेटा : ऑन पॉलिटिकल अफ़ैक्ट इन सिनेमा', *क्रिटिकल स्टडीज़ ऑफ़ मीडिया कम्युनिकेशन,* खण्ड 27, अंक 1.

बेनेडिक्ट ऐंडरसन (1983), *इमैजिंड कम्युनिटी : रिफ़्लेक्शन ऑन द ऑरिजिन ऐंड स्प्रेड ऑफ़ नैशनलिज़्म,* वर्सो, लंदन.

मार्था सी. नुसबॉम (2002), 'पैट्रिअटिज़्म ऐंड नैशनलिज़्म', मार्था सी. नुसबॉम और जोशुआ कोहेन (सं.), *फ़ॉर लव ऑफ़ कंट्री,* बीकन प्रेस, बोस्टन.

रंजनी मजुमदार (2011), 'एवियेशन, टूरिज़्म ऐंड ड्रीमिंग इन (1960ज़) बॉम्बे सिनेमा', *बायोस्कोप* : साउथ एशियन स्क्रीन स्टडीज़, 2.

रोज़ी टॉमस (2014), *बॉम्बे बिफ़ोर बॉलीवुड : फ़िल्म सिटी फ़ैंटेसी,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

सुदीप्त कविराज (2007), 'रीडिंग अ सॉन्ग ऑफ़ द सिटी : इमेजेज़ ऑफ़ सिटी इन लिट्रेचर ऐंड फ़िल्म्स', प्रेबेन कारशॉल्म (सं.), *सिटी फ़्लिक्स : इण्डियन सिनेमा ऐंड अर्बन एक्सपीरियेंस,* सीगल बुक्स.

सुमिता चक्रवर्ती (2005), *नैशनल आइडेंटिटी ऐंड इण्डियन पॉपुलर सिनेमा : 1947-1987,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

फ़िल्में :

अ थ्रो ऑफ़ डाइस (1931), हिमांशु रॉय फिल्म्स, निर्देशक : फ्रैंज़ ऑस्टन.

अमन (1967), मोहन कुमार, निर्देशक : मोहन कुमार.

आवारा (1951), आर. के. फ़िल्म्स, निर्देशक : राज कपूर.

ऐन ईवनिंग इन पेरिस (1967), शक्ति फ़िल्म्स, यूनाइटेड प्रोड्यूसर्स, निर्देशक : शक्ति सामंत.

काबुलीवाला (1961), विमल रॉय प्रोडक्शंस, निर्देशक : हेमंत गुप्ता.

गाइड (1965), नवकेतन इंटरनेशनल फ़िल्म्स, निर्देशक : विजय आनंद.

टैक्सी ड्राइवर (1955), नवकेतन इंटरनेशनल फ़िल्म्स, निर्देशक : चेतन आनंद.

डॉ. कोटनीस की अमर कहानी (1946), राजकमल कला मंदिर, निर्देशक : व्ही शांताराम.

दो आँखें बारह हाथ (1957), राजकमल कला मंदिर, निर्देशक : व्ही शांताराम.

दो बीघा ज़मीन (1953), निर्देशक : विमल राय, निर्माता : विमल राय.

प्यासा (1957), गुरुदत्त फ़िल्म्स प्राइवेट लिमिटेड, निर्देशक : गुरुदत्त.

मि. ऐंड मिसेज (1955), गुरुदत्त फ़िल्म्स प्राइवेट लिमिटेड, निर्देशक : गुरुदत्त.

लाइट ऑफ़ एशिया (1925), एमेल्की फ़िल्म कम्पनी और ग्रेट ईस्टर्न कम्पनी, निर्देशक : फ्रैंज ऑस्टन.

शिराज़ (1929), हिमांशु रॉय फिल्म्स, निर्देशक : फ्रैंज़ ऑस्टन.

श्री 420 (1951), आर. के. फ़िल्म्स, निर्देशक : राज कपूर.

सीआईडी (1956), गुरुदत्त फ़िल्म्स प्राइवेट लिमिटेड, निर्देशक : राज खोसला.